कहा जाता है स्व में अहन्ता एवं पर में त्वन्ता का प्रयोग हो सकेगा। पर यह भी ठीक नहीं। स्व एवं पर शब्द का अर्थ क्या है ? यदि आत्मा कहें तो ठीक नहीं; आत्मा पर शब्द का अर्थ नहीं हो सकता। कोई भी आत्मा को पर नहीं मानता। अतः स्व शब्द का अर्थ ही आत्मा है। अहं शब्द एवं त्वं शब्द का अर्थ शुद्ध आत्मा नहीं है। हाँ, अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य अहं शब्द का और सम्बोध्य अहङ्कारविशिष्ट चैतन्य त्वं शब्द का अर्थ है। 'महाभूतान्यहङ्कारो' 'महतोऽहंकार' आदि वचनों के अनुसार त्वंकार स्वतन्त्र कोई पदार्थ नहीं, अहङ्कार ही स्वतंत्र तत्त्व है। अहङ्कार तत्त्व त्वं बुद्धि विरोधी नहीं है। अहं बुद्धि ही त्वं बुद्धि की विरोधिनी है।

कहा जाता है यदि साभास अहंकार को स्व में अहंबुद्धि होती है और स्व शब्दार्थ आत्मा ही है तो सुतरां आत्मा में ही अहं बुद्धि हुई। परन्तु यह ठीक नहीं; कारण साभास अहंकार को जहाँ अहंबुद्धि होती है वह स्व शब्दार्थ साभास अहंकार ही है, आत्मा नहीं। सब कुछ आत्मा में ही कल्पित होने से सब कुछ आत्मा ही है। इस दृष्टि से वह भी आत्मा ही है। 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वं स आत्मा', भी सामान्य लोक जीव को ही आत्मा मानता है। अतएव बोद्धृतात्पर्याभिप्राय से साभास अहंकारविशिष्ट चैतन्य ही अहंबुद्धि का विषय कहा जाता है।

कहा जाता है कि अनात्मा में अहंकार बुद्धि का जनक अहङ्कार प्रकृति का परिणाम है। परन्तु आत्मा में अहं बुद्धि स्वाभाविकी है, अहङ्कारजन्य नहीं। पर यह भी ठीक नहीं, कारण वृत्ति, ज्ञान या बुद्धि अन्तःकरणजन्य ही है, अन्तःकरण से अजन्य स्वाभाविकी बुद्धि कोई नहीं होती। यदि आत्मा में अहंबुद्धि स्वाभाविक हो तब तो वेदान्त शास्त्र ही व्यर्थ होंगे। आत्म-साक्षात्कार के लिये ही तो उनका उपयोग है। अतः अहं बुद्धि का जनक अहङ्कार गर्व हेय कोटि में कहा गया है। परन्तु गर्व अहङ्कार का विषय है। अतएव कहा गया है—

"मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी॥"

मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार ये चार अन्तःकरण हैं। संशय, निश्चय, गर्व एवं स्मरण उनके विषय हैं। 'गर्वोऽभिमानोहंकार' इस निघण्टु वचन में अहङ्कार विषय गर्व में ही अहंकार शब्द का प्रयोग हुआ है। कुछ लोगों का कहना

है कि 'अनहमहं क्रियते अनेन' इस प्रकार व्युत्पत्ति से अनहं को अहं किया जाय जिसमें वह अहंकार तत्ववाची है और 'अनहमोहमः करणं अहङ्कारः' इस भाव व्युत्पत्ति से अहङ्कार शब्द गर्ववाची होता है। दोनों पक्ष में अभूत तद्भाव में च्वि प्रत्यय माना जाता है, किन्तु यहाँ अभूत तद्भाव है ही नहीं। ऐसा हो तब तो अनहं में अहंबुद्धि अहंकार है और अहं में अहंबुद्धि अहङ्कार नहीं है यह कहना होगा। परन्तु यह असंगत है, जैसे अत्वं में त्वं बुद्धि त्वंकार है और त्वं में त्वं बुद्धि त्वंकार नहीं यह असंगत है, वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये।

यह भी विचारना होगा कि बुद्धि में अहंबुद्धि अहंकार है या नहीं, पहला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि फिर तो अनहं में अहंबुद्धि अहङ्कार है इस नियम का भङ्ग हुआ। यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ नहीं है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि 'अथातोऽहंकारादेशः' इस श्रुति में अहं शब्द को साक्षात् अहंबुद्धि का वाची माना है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि अनहं में अहंबुद्धि अहङ्कार है तो बुद्धि में अहंबुद्धि अहङ्कार क्यों नहीं? यदि कहा जाय कि बुद्धि अहमर्थ ही है तब तो अहमर्थ आत्मा है यह सिद्धान्त भङ्ग हुआ।

कहा जाता है कि शरीरादि अनात्मा में आत्मबुद्धि अविद्या है परन्तु आत्मा में आत्मबुद्धि बाधरहित होने से विद्या ही है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में अहंबुद्धि बाधरहित नहीं है। विचारना यह है कि आत्मा में आत्मबुद्धि आत्मा को होती है या अनात्मा को? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि सुप्ति में भी अहंबुद्धि होनी चाहिये वहाँ आत्मा रहता है पर वहाँ अहंबुद्धि नहीं होती। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि अनात्मा को आत्मा में अहंबुद्धि अविद्या ही हुई। अहमात्मा इस रूप से माननेवाला अनात्मा ही अहमर्थ ठहरता है। कहा जाता है यदि ज्ञप्तिमात्र ही आत्मा है तो वैसा ही प्रतिभास होना चाहिये। पर प्रतीति ज्ञातृत्व की होती है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ज्ञप्तिमात्र आत्मा में ही ज्ञातृत्व का भ्रम होता है। जो ज्ञप्ति-मात्र आत्मा को जानता है उसे अनात्मा में आत्मबुद्धि नहीं होती। चिदाभास से अविविक्त अहङ्कार को ही लोक आत्मा समझता है। अतः अनात्मा शरीरादि में अहं प्रत्यय आत्माभिमान कहा जाता है। कहा जाता है कि तब तो अनात्मा अहङ्कार में भी अहं प्रत्यय आत्माभिमान ही है। ठीक है, अनात्मा अहङ्कार में यदि आत्मा को अहं प्रत्यय हो तो वह आत्माभिमान ही है। परन्तु ऐसा होता नहीं, क्योंकि आत्मा जन्य ज्ञान का आश्रय नहीं होता।

यदि अनात्मा को ही अनात्मा अहङ्कार में अहं प्रत्यय होता है तब तो यथार्थ ही है। आत्माभिमान क्यों? इस तरह साभास अहङ्कार को साभास अहङ्कार में अहं प्रत्यय आत्माभिमान नहीं है किन्तु स्व से अन्य में अहं प्रत्यय ही आत्माभिमान है। जीव को अपने में अहंबुद्धि आत्मबुद्धि ही है। कहा जाता है कि फिर तो अहमर्थ जीव ही ज्ञाता सिद्ध हुआ, ठीक ही है; परन्तु वह संसारी ही है, प्रत्यगात्मा अहमर्थ नहीं किन्तु वह ज्ञप्तिमात्र ही है।

कहा जाता है यदि अहमर्थ अनात्मा है तब तो स्थूलोऽहं इस प्रत्यय को भ्रान्ति क्यों कहा जाय? परन्तु यह ठीक नहीं, जैसे भ्रान्त की दृष्टि से इदमर्थ सर्प ही है वैसे ही उसकी दृष्टि में अहमर्थ आत्मा ही होता है। यदि अहमर्थ आत्मा है तो स्थूलोऽहं के अनुसार स्थूलः आत्मा ऐसी प्रतीति क्यों नहीं होती? अतः अहङ्कारावच्छिन्न आत्मादि अहं शब्दार्थ है केवल नहीं।

———

ज्ञान नित्यत्व

कुछ लोग कहते हैं "अद्वैती लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही आत्मा या परमात्मा मानते हैं, किसी लोकोत्तीर्ण ज्ञान को नहीं परन्तु प्रसिद्ध ज्ञा धातु से निष्पन्न ज्ञान तो अनित्य ही होता है।" यह कहना भ्रामक है क्योंकि अद्वैती ही क्यों उपनिषदें तथा भागवतादि पुराण भी ज्ञान को ही आत्मा एवं परमात्मा मानते हैं। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' अर्थात् त्रिकालाबाध्य अनन्त अपरिच्छिन्न ज्ञान ही ब्रह्म, है। भागवत के अनुसार अद्वितीय त्रिविध परिच्छेद शून्य ज्ञान ही तत्त्व है। उसी को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् कहा जाता है—

"वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।"

एक ज्ञानरूप निर्गुण ब्रह्म पराङ्मुख इन्द्रियों से शब्दादि धर्मि प्रपञ्च रूप में भ्रान्ति से प्रतिभासित होता है—

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्मनिर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्याशब्दादि धर्मिणा ॥"

तुलसीदास जी भी कहते हैं 'ज्ञान अखण्ड एक सीतावर।' एक अखण्ड ज्ञान ही राम है। रहा यह कि वह लौकिक है या अलौकिक? सो तो जब उसको नित्य अखण्ड कहा जा रहा है तो सुतरां सर्वलोकाधिष्ठान, अलौकिक, लोकोत्तीर्ण अतएव मनोवचनातीत ही है। तभी तो प्रतिवादियों को ज्ञान शब्द से साभास वृत्ति ही बुद्धिगत होती है। कई लोग तो नित्य ज्ञान की सत्ता भी नहीं मानते। बौद्ध भी ज्ञान की चर्चा करते हैं परन्तु उनका ज्ञान भी क्षणिक बुद्धि रूप ही है। इतरवादियों का भी ज्ञान अनित्य ही है। कई लोग धर्मभूत ज्ञान को नित्य मानते हुए भी उसे परप्रकाश्य मान लेते हैं। आचार्यों ने वृत्तिव्यक्त फलचैतन्य या घटादि अनुभूति को ब्रह्म तत्त्व कहा है। परन्तु उसे उपाधि निष्कृष्ट (निर्मुक्त) रूप से ही ब्रह्म समझना चाहिये।

यों तो आत्मा को भी अद्वैती ब्रह्म कहते हैं। परन्तु कौन आत्मा? क्या देहादिविशिष्ट कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, अनेकानर्थपरिप्लुत अथवा देहादि उपाधि-रहित अखण्ड बोध स्वरूप? प्रथम पक्ष मान्य नहीं यह स्पष्ट है, किन्तु उत्तर

पक्ष ही मान्य है। इसीलिये श्रुति में कहा गया है जैसे बुद्धिमानी से मुञ्जतृण से इषीका (सिरकी) निकाली जाती है उसी तरह पञ्चकोश से विविक्त रूप से आत्मा का दर्शन होता है। पञ्चकोशविशिष्ट होकर आत्मा लौकिक होता हुआ विविक्त रूप से अलौकिक ही है। सत्ता, ज्ञान, आनन्द सभी उपाधिविशिष्ट होकर लौकिक ही हैं परन्तु उपाधिविविक्त होकर सर्वथा लोकोत्तीर्ण हैं। तभी तो उसी तत्त्व के संबंध में कहा गया है—'आश्चर्योऽस्य वक्ताकुशलोऽनुशिष्टः' इसका वक्ता आश्चर्यमय है अनुशिष्ट शिष्य भी बहुत कुशल चाहिये।

"आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवत्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्।"

इसका वक्ता, श्रोता, द्रष्टा सर्वआश्चर्यमय है। कई बुद्धि में ज्ञान, सत्ता, आनन्द आदि शब्दों से लौकिक अनित्य दृश्य वैषयिक वस्तु ही भासित होती है। पीछे कहा जा चुका है कि अनित्य ज्ञानों एवं उनका आश्रय ज्ञाता तथा ज्ञानविषय इन सभी का भासक निर्विकार नित्य अखण्ड भान ही नित्य ज्ञान-स्वरूप आत्मा या ब्रह्म है। 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा' तीनों को जो स्वरूपभूत प्रकाश से भासता है वही आत्मा है।

प्रतिवादी ज्ञान का प्रागभाव तथा उत्पत्ति सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। ज्ञान के स्मरण एवं अनुमान आदि सिद्धि में जीतोड़ प्रयत्न करते हैं परन्तु यह सब बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान में ही गत्यर्थ हो जाता है।

सुप्ति में मैं नहीं जानता था इस कथन से वृत्तिरूप विशेष ज्ञान का ही अभाव सिद्ध होता है। अतएव सौषुप्ततम एवं सुख के भासक साक्षिरूप ज्ञान का अस्तित्व श्रुति ही कहती है—

"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन् वै तन्न पश्यति" (श्रति)
"ता येनैवानुभूयन्ते सोऽध्यक्षः" (भा०पु०)
"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः" (श्रुति)

अवस्था त्रय साक्षी के अभाव में सुप्ति ही नहीं सिद्ध होगी। 'उसी ज्ञान के द्वारा उसी ज्ञान का अभाव सिद्ध होता है', यह कथन अत्यन्त असंगत है, जब वह ज्ञान है ही नहीं तब अभाव ग्राहक कैसे होगा? है तो उसका अभाव ही कैसे होगा? ज्ञान का स्वप्रकाशत्व विस्तार से कहा गया है। अतः एक ज्ञान दूसरे का प्रकाशक नहीं होता। वृत्ति का नानात्व ही ज्ञान में भ्रान्ति से आरोपित होता है। वस्तुतः अन्य ज्ञान है ही नहीं जिससे ज्ञान का प्रकाश हो।

कहा जाता है "ज्ञान का प्रागभाव दूसरे ज्ञान से गृहीत नहीं होता। अद्वैतियों का यह वाक्य भी सार्थक नहीं होगा। यह तभी सार्थक होगा जब ज्ञान पूर्वोक्त वाक्यजन्य शाब्दबोध का विषय हो। ज्ञान की दुर्ग्राह्यता या अज्ञेयता तभी कही जा सकती है जब दुर्ग्राह्य ज्ञान किसी ज्ञान का विषय हो।" परन्तु यह सब कथन निरर्थक है, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान, निर्णय, संशय, विपर्यय आदि का विषय आत्मा, ब्रह्म, संविद् आदि अवश्य होते हैं। परन्तु उनसे ब्रह्म या शुद्ध ज्ञान आदि का प्रकाश नहीं होता यह कहा जा चुका है। किन्तु आंशिक अज्ञानादि निवर्तन ही उनका प्रयोजन है। आवरणनिवृत्ति एवं स्फुरण दो वस्तु हैं यह समझ लेना चाहिये। शास्त्रार्थ, उपदेश, जिज्ञासा, उपदिष्ट ज्ञान का समझना, न समझना आदि भी वृत्तिरूप विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध की ही बात है। अपने में या शिष्य में अपरोक्ष ज्ञान के प्रागभाव को जानकर ही अपरोक्ष ज्ञान के लिये प्रयत्न किया जाता है परन्तु यहाँ भी अपरोक्ष ज्ञान या शास्त्रार्थ ज्ञान वृत्तिरूप ही ज्ञान है और वह ज्ञेय ही मान्य है।

जैसे कुड्यादि व्याप्त सौरालोक से वास्तविक भेद न होने पर भी दर्पण प्रतिबिम्बित सौरालोक उसकी अपेक्षा विशिष्ट भासित होता है, उसी तरह सर्वव्यापी निर्विशेष अखण्ड बोध से विषयाकार वृत्ति में प्रतिबिम्बित बोध की विशेषता भासित होती है। इसी लिये वृत्ति के उत्पन्न होने से वृत्ति प्रतिबिम्बित चैतन्य की उत्पत्ति आदि की भ्रान्ति होती है। यही अमुक ज्ञान या समझ हममें या अन्य में पहले नहीं थी अब हुई है—इत्यादि व्यवहार होते हैं। ऐसे सभी स्थलों में वृत्ति की उत्पत्ति से ही वृत्तिविशिष्ट चैतन्य या बोध में उत्पत्ति का भ्रम ही है।

अपि च 'शिखीध्वस्तः, कुण्डली जातः' इत्यादि स्थलों में शिखा और कुण्डल रूप विशेषण में ही ध्वंस और उत्पत्ति पर्यवसित होती है। 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' सविशेषण में विधि निषेध विशेषण में ही उपसंक्रान्त होता है। शिखी के ध्वंस का अर्थ शिखा का ही ध्वंस है। कुण्डली जातः का अर्थ कुण्डल सम्बन्ध का होना है। विशेष के विद्यमान होने के कारण विधि निषेध दोनों ही उसमें नहीं हो सकते। इस तरह ज्ञान की उत्पत्ति का व्यवहार नहीं होता, वहाँ विषय सम्बन्ध की उत्पत्ति ही अर्थ है। इसी लिये समझ की उत्पत्ति की बात नहीं कही जाती है। समझ, ज्ञान या बोध होते हुए भी अमुक अमुक शास्त्र या अमुक अमुक विषय का बोध या समझ मुझे नहीं है यही कहा जाता है। उसी के लिये तत्तत् प्रत्यक्ष अनुमान, आगम एवं आचार्यो-

पदेश अपेक्षित होते हैं। उनसे तत्तद्विषयाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। तब तत्तत् विषयों का बोध होना कहा जाता है। वृत्ति पर अभिव्यक्त जिस बोध से प्रकाश होता है वह बोध तो सदा ही एकरस रहता है। जैसे प्रथम से विद्यमान ही सौरालोक दर्पणादि पर विशेष रूप से व्यक्त होता है, वैसे ही नित्य बोध ही विषयाकार वृत्ति पर व्यक्त होकर विषय का प्रकाशन करता है। इसी लिये कौषीतकी आदि में कहा गया है कि—

"प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य सर्वाणि रूपाण्यभिपश्यति"

प्रज्ञा के द्वारा ही ज्ञान स्वरूप आत्मा चक्षु पर उपारूढ होकर सब रूपों को देखता है। यह भी उपलक्षण ही है। प्रज्ञा द्वारा तत्तत् करणों पर उपारूढ होकर तत्तत् करणजन्य तत्तद्विषयाकार वृत्ति पर अभिव्यक्त होकर तत्तद् विषयों का प्रकाशन करता है।

इसी तरह यह भी कहा जाता है कि यदि ज्ञान अनादि एवं नित्य हो तब तो उसका विधान भी नहीं हो सकता; परन्तु 'पत्न्यावेक्षितमाज्यं भवति' इत्यादि वाक्यों से पत्नी के द्वारा यज्ञ सम्बन्धी आज्य (घृत) के अवेक्षण का विधान है। इससे भी ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध होती है परन्तु यह भी कथन भ्रममूलक है। यहाँ तो स्पष्ट ही चक्षुर्जन्य अन्तःकरण की वृत्ति की ही उत्पत्ति होती है। वृत्ति ही अवेक्षण है। उसी की उत्पत्ति से उस पर अभिव्यक्त प्रकाशरूप बोध में भी उत्पत्ति का आरोप है—'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः', पापकर्म क्षय से ज्ञान की उत्पत्ति होती है। 'तद्धास्य विजज्ञौ' पिता के वचन से श्वेतकेतु ने ब्रह्म को जान लिया इत्यादि स्थलों में भी वेदान्त महावाक्य जन्य वृत्ति की ही उत्पत्ति की बात कही गयी है। उसी को चरमावृत्ति कहा जाता है। असल में वृत्तिरूप ज्ञान और अज्ञान दोनों ही नित्य ज्ञानरूप साक्षी से भास्य होते हैं। इसलिये ज्ञात और अज्ञात रूप से सभी वस्तु साक्षिभास्य हैं। 'ज्ञाततया अज्ञाततया वा सर्वं वस्तु साक्षिभास्यम्' यह सिद्धान्त है। उपनिषद् कहती है ब्रह्म के भान के पश्चात् ही सब वस्तु का भान होता है। ज्ञानस्वरूप ब्रह्म के स्वरूप से सब वस्तु का प्रकाश होता है—'तमेवभान्तमनुभाति सर्वम् तस्यभासा सर्वमिदम् विभाति।' इस तरह अज्ञान का विषय होकर अज्ञात रूप से वस्तु साक्षिभास्य होती है। वृत्तिरूप ज्ञान का विषय होकर ज्ञातरूप से वस्तु साक्षि से भासती है।

सर्वथाऽपि नित्य ज्ञान का प्रागभाव या अतीतता आदि नहीं होती। यह

ज्ञानसम्बन्धी स्मरण, अनुमान या प्रागभाव वृत्तिज्ञान सम्बन्धी ही है। इस सम्बन्ध में बहुतसा निरर्थक पूर्व पक्ष बढ़ाया जाता है। "यदि प्रत्यक्ष ज्ञान नित्य है तो प्रत्यक्ष ज्ञान सदा ही रहना चाहिये। प्रत्यक्ष वर्तमानग्राही होता है फिर घटादि विषय भी सदा वर्तमान रहना चाहिये। परन्तु घटादि तो अनित्य ही है। अतः प्रत्यक्ष ज्ञान को भी अनित्य ही मानना पड़ेगा। घट के रहते समय भी वह कभी प्रत्यक्ष होता है कभी नहीं, प्रत्यक्ष सामग्रीसापेक्ष भी होता है जो सामग्रीसापेक्ष है वह नित्य कैसे? घटादि का सदा प्रकाश नहीं रहता अतः ज्ञान का नाश भी मानना चाहिये। जो अर्थ विस्मृत हो जाते हैं उनको फिर से समझाया जाता है। इससे भी ज्ञान का नाश सिद्ध होता है। यदि घटादि विषय का ज्ञान नष्ट न हो तो लोगों को निद्रा ही न होनी चाहिये। साथ ही मोक्षकाल में भी घटादि ज्ञान रहना चाहिये। फिर उसे मोक्ष भी कैसे कहा जायगा।" ऐसे ही सैकड़ों और भी नये प्रश्न बनाये जा सकते हैं। परन्तु सब का एक ही समाधान है कि ये सब वृत्तिज्ञान हैं और उनकी उत्पत्ति-विनाश मान्य ही है। इसी को लेकर प्रतिकर्म व्यवस्था बनती है। जिस अखण्ड बोध के द्वारा इन वृत्तिरूप ज्ञानों की उत्पत्ति आदि भासित होती है प्रकाशरूप में नित्य ज्ञान वही है। जैसे घटादि उपाधि परामर्श के बिना भेद प्रतीत न होने से सब आकाश एक ही है। उसी तरह विषय एवं वृत्तिरूप उपाधिभेद के बिना सब ज्ञानों में रहनेवाले भान या प्रकाश में भेद नहीं प्रतीत होता। सर्वत्र नित्य प्रकाश विज्ञान एक ही है। नित्य ज्ञान होता ही नहीं; यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी भी धर्मिभूत अहमर्थ को भी स्वयंप्रकाश होने से नित्य ज्ञान-रूप कहता है। धर्मभूत ज्ञान को भी वह नित्य मानता है। अतः उसके पक्ष में चक्षुरादिकरण तथा मन आदि अन्तःकरण व्यर्थ होगा। ज्ञान की उत्पत्ति, नाश तथा विस्मरण, स्मरण आदि की व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न रहेगी। अद्वैत मत में तो अन्तःकरण वृत्ति रूप ज्ञान को लेकर सब व्यवस्था उपपन्न हो जाती ही है।

कुछ लोग कहते हैं 'अथ यो वेदेदं जिघ्राणि स आत्मा' जो समझता है कि मैं सूँघता हूँ वही आत्मा है, इत्यादि श्रुतियों के अनुसार स्वयंप्रकाश अहमर्थ आत्मा है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति' इत्यादि वचनों से आत्मा स्वयंज्योति कहा गया है। इससे आत्मा ज्ञानस्वरूप है। सुप्ति में भी अहं अहं ऐसा प्रकाश रहता है। किन्तु वहाँ प्रत्यक्त्व एकत्व अनुकूलत्व रूप से ही प्रकाशता है। आत्मा की यह स्वप्रकाशत्व शक्ति इतने ही धर्मों से विशिष्ट आत्मा को

प्रकाशती है। परन्तु धर्मभूत ज्ञान के द्वारा आत्मा इतर धर्मों से विशिष्ट रूप में भी प्रकाशता है। आत्मा अपने प्रकाश स्वरूप से वाह्य पदार्थों को प्रकाशित नहीं कर सकता न जान ही सकता है। किन्तु धर्मभूत ज्ञान के बल से ही वाह्यपदार्थों को जानता है। साथ ही प्रत्येक आत्मा में धर्मभूत ज्ञान एक ही रहता है। इसी से 'मैं जानता हूँ' ऐसा व्यवहार होता है। 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपोविद्यते अविनाशित्त्वात्'।—बृ० ३४ ब्रा० ३।२३; 'नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते'।—२४।३।३०, इत्यादि श्रुतियों से मालूम पड़ता है कि आत्मा का धर्मभूत नित्य ज्ञान विभिन्न विषयों का ग्राहक होने से दर्शन, श्रवण, मनन आदि रूपों को धारण करता है। उस ज्ञान का नाश नहीं होता क्योंकि आत्मा अविनाशी है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है, जब तक अग्नि रहता है तब तक उसमें उष्णता रहती है, उसी तरह धर्मभूत ज्ञान आत्मा का स्वरूपप्रयुक्त धर्म है। अतः आत्मा के नित्य होने से वह भी नित्य है। 'द्रष्टुर्दृष्टे' इस निर्देश से द्रष्टा से उसकी दृष्टि भिन्न ही सिद्ध होती है। 'अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा'।—बृ० ४।५।१४। यह श्रुति आत्मा के समान ही उसके धर्मभूत ज्ञान को भी अविनाशी कहती है, उसका उच्छेद नहीं होता है।

> "यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः।
> दोषप्रहाणान्नज्ञानमात्मनः क्रियते तथा॥
> यथोदपान करणात् क्रियते न जलाम्बरम्।
> सदेव नीयते व्यक्तिमसतः संभवः कुतः॥
> तथा हेय गुणध्वंसादवबोधादयो गुणाः।
> प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते॥"

इत्यादि वचनों के अनुसार जैसे मल हटाने से रत्नप्रभा स्वयं प्रकट होती है, नवीन प्रभा नहीं उत्पन्न होती वैसे ही दोषों के नष्ट होने से आत्मा का नित्य ज्ञान प्रकट होता है। कूप खोदने से जल और आकाश उत्पन्न नहीं होता किन्तु पूर्वस्थित ही प्रकट होता है। वैसे ही त्याज्य दोषों के नष्ट होने पर आत्मा के ज्ञान आदि गुण प्रकाशित होते हैं। फिर भी वह ज्ञान विषयप्रकाशन के समय ही स्वयं प्रकाशता है। निद्रादि समय में विषयों का प्रकाश नहीं होता। अतः धर्मभूत ज्ञान भी नहीं प्रकाशता, अतएव निद्रा सम्पन्न होती है।

यह धर्मभूत ज्ञान आत्मा के आश्रित रहने से आत्मा का गुण भी है तथा संकोच विकासशाली होने से द्रव्य भी है, अतः कर्मों के अनुसार वह जब विकास को प्राप्त होता है तो विषयों को प्रकाशता है। संकोच अवस्था को प्राप्त होने पर विषयों को नहीं प्रकाशता। निद्राकाल में तमो गुण के कारण अत्यन्त संकुचित हो जाता है। अतः उस समय विषय का भी प्रकाश नहीं होता और ज्ञान का भी प्रकाश नहीं होता। जागर स्वप्न में सत्व के तारतम्य से उसका प्रकाश होता है। ज्ञान सामग्री धर्मभूत ज्ञान के विकसित होने में सहायक होती है। ज्ञान सामग्री न होने पर धर्मभूत ज्ञान संकुचित पड़ा रहता है।

"सत्कार्यवाद के अनुसार ज्ञान की उत्पत्ति विनाश होने पर भी नित्यता उपपन्न रहती है। जैसे मृत्तिका द्रव्य के नित्य रहने पर भी घटत्व, कपालत्व, चूर्णत्व आदि अवस्थायें आती जाती रहती हैं वैसे ही धर्मभूत ज्ञान के नित्य होने पर भी उसमें प्रत्यक्षत्व, परोक्षत्व, स्मृतित्व, अनुभवत्व आदि अवस्थाएँ उत्पन्न एवं नष्ट होती रहती हैं।" उपर्युक्त बातों पर विचार करने से ये उचित नहीं प्रतीत होतीं। श्रुति तो अन्तःकरणादिविशिष्ट सोपाधिक आत्मा का सूँघना, देखना, सुनना, चलना सब बतलाती है, परन्तु निरुपाधिक आत्मा निर्गुण निष्क्रिय ही है। अतएव अहंरूप से भासमान आत्मा सोपाधिक ही है, निरुपाधिक नहीं। वस्तुतः अहं को आत्मा मानने से उसको स्वयंप्रकाश नहीं कहा जा सकता क्योंकि सुप्ति में अहं का प्रकाश नहीं होता। 'नाहखल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति', सुप्त मैं यह हूँ ऐसा अपने को नहीं जानता अतएव इन्द्रियों के समान ही अहं का भी प्रस्वाप कहा गया है—'सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते, कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः।' इन्द्रियगण के निर्व्यापार एवं अहं के सुप्त होने पर आशय अन्तःकरण के बिना साक्षीरूप कूटस्थ ही रहता है। उसी साक्षी को ही स्वयं ज्योति कहा गया है। पूर्वपक्षी के उक्त पक्ष से नैयायिकों का ही पक्ष श्रेष्ठ ठहरता है।

जागर स्वप्न में वे 'अहं अहं' इस प्रकाश को मानस प्रत्यक्ष मानते हैं। सुप्ति में मानस प्रत्यक्ष होता नहीं। अतएव सुप्ति में अहं अहं इस रूप से आत्मा का प्रकाश भी उन्हें नहीं मान्य है। यदि सुप्ति में अहं का प्रकाश होता तो नैयायिकों को भी उसकी उपपत्ति करनी पड़ती अतः यह अहं अहं रूप से सुप्ति में आत्मा का अनुभव होता नहीं, यह श्रुतिस्मृति से सिद्ध ही है। सुप्ति में स्वयं ज्योतिरूप से रहनेवाला साक्षी अहंकारविशिष्ट न होकर कारणभूत अविद्याविशिष्ट प्राज्ञरूप ही है। नैयायिक आत्मा को अचेतन

मानते हैं। सुप्ति में मानस प्रत्यक्ष न होने से अहंरूप से उसका अभाव बन सकता है। परन्तु जो अहमर्थ आत्मा को स्वप्रकाश मानते हैं उनके मत में सुप्ति में उसका अभाव उपपन्न नहीं होता।

तमोगुण से प्राकृत अहमर्थ का अभिभव हो सकता है परन्तु अप्राकृत स्वप्रकाश आत्मा का अभिभव नहीं हो सकता। अतएव प्रत्यक्त्व, एकत्व, अनुकूलत्वरूप धर्मों से विशिष्ट अहं का भान सुप्ति में होता है यह कहना नितान्त असंगत है। जब अहंरूप से भी उसका भान असिद्ध है तब फिर 'मैं एक हूँ, प्रत्येक हूँ, अनुकूल हूँ' इस रूप से अनुभव तो सर्वथा निराधार ही है। इसके अतिरिक्त जैसे कभी रूपादिधर्मरहित घटादि नहीं उपलब्ध होते, उष्णत्व-रहित अग्नि नहीं भासित होता, वैसे ही धर्मभूत ज्ञान के विना अहमर्थ आत्मा भी प्रकाशित नहीं हो सकता। यदि धर्मभूत ज्ञान सहित ही अहमर्थ का सुप्ति में भान होता है तब तो इतर धर्मों से विशिष्ट अहमर्थ का सुप्ति में ग्रहण होना चाहिये और ऐसा होने पर फिर सुप्ति ही नहीं सिद्ध हो सकती। इसी तरह यदि धर्मभूत ज्ञान की उत्पत्ति और विनाश मान्य है तब उसका नित्यत्व एवं एकत्व मानना व्यर्थ ही है। फिर तो नैयायिकों के तुल्य आत्मा को अचेतन मानकर उसके ज्ञान को क्षणिक एवं अनन्त मानना ही ठीक है क्योंकि ऐसा अनुभवसिद्ध है। एक ही वस्तु को गुण एवं द्रव्य दोनों मानना भी निरर्थक है। संकोच विकास भी विकार ही है? अतएव संकोच विकास अवस्थावाली वस्तुयें अनित्य ही होती हैं। मृत्तिका द्रव्य भी अनित्य ही है। तभी तो श्रुति में उसकी उत्पत्ति श्रुत है। 'अद्भ्यः पृथिवी' इस तरह सत्कार्यवाद की दृष्टि से ज्ञान को नित्य कहा जायगा तब तो घटादि को भी नित्य कहा जा सकता है; फिर तो जो कार्य है वह अनित्य है यह लोक-प्रसिद्धि भी निरर्थक हो जायगी। श्रुतियों की व्यवस्था तो नैयायिक आदि भी अपने पक्ष में बिठला लेते हैं कारण वे भी वेद प्रामाण्यवादी ही हैं। आत्मा के धर्मभूत ज्ञान को नित्य मानकर ज्ञान सामग्रियों से उसका संकोच विकास मान, ज्ञानों की उत्पत्ति विनाश मानने की अपेक्षा कहीं अच्छा मार्ग है किं ज्ञान सामग्रियों से साभास अन्तःकरण की साभास वृत्तिरूप अनित्य ज्ञानों की ही उत्पत्ति आदि माना जाय। सत्त्व गुण को प्रकाशक माना जाता है। 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानम्'; 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्त्वात् प्रकाशकमनामयम्'; 'सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।' 'प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव॥' 'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोदनञ्च'। उपर्युक्त वचनों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि

सत्व निर्मल एवं प्रकाशक है और उससे वृत्त्यात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। यहाँ स्मृति के समान ही ज्ञान की उत्पत्ति कही गई है। प्रतिवादी द्वारा उपस्थापित प्रमाणों से भी ज्ञान की उत्पत्ति ही सिद्ध होती है। अतः धर्मभूत ज्ञान को नित्य कहना सर्वथा असंगत है। 'ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्म कर्मस्वभावजम्' से ज्ञान विज्ञान को कर्म ही कहा गया है, वह बुद्धि वृत्तिरूप होने से ही संगत है।

'कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धा अश्रद्धा ह्रीर्धीर्भीः' इस श्रुति के अनुसार काम, सङ्कल्प, संशय, श्रद्धा, अश्रद्धा, लज्जा, ज्ञान और भय सब मन के ही धर्म हैं। इसी लिये दृष्टि विज्ञाति श्रुतिमति आदि दो प्रकार की होती है। एक बुद्धिवृत्तिरूप एवं बुद्धिवृत्ति पर अभिव्यक्त नित्य बोधरूप। बुद्धिवृत्तिरूप विज्ञाति दृष्टि अनित्य ही होती है। वृत्ति पर व्यक्त नित्य बोधरूप दृष्टि आदि नित्य होती है।

वृत्ति पर व्यक्त होनेवाली दृष्टि श्रुति आत्मा का स्वरूप ही है। पीछे कहा है कि आत्मा प्रज्ञा द्वारा चक्षु आदि पर उपारूढ होकर रूपादि सब विषयों को देखता है 'प्रज्ञया चक्षुरुपारुह्य'। आत्मस्वरूपभूत ज्ञान की नित्यता अवश्य है। उसी की अन्तःकरण वृत्तियों पर अभिव्यक्ति होती है। इसलिये उसमें अनित्यता की प्रतीति भी होती है। अतः यहाँ 'राहोः शिरः' के समान अभेद में ही षष्ठी है। जैसे राहु ही शिर है वैसे ही साक्षी का स्वरूपभूत ही नित्य दृष्टि है। दो प्रकार की दृष्टि होती है, एक लौकिकी दूसरी परमार्थिकी। चक्षुःसम्प्रयुक्त अन्तःकरण की वृत्ति लौकिकी है। वही दृष्टि कृत है, जन्य है, विनश्वर है परन्तु जो आत्मा की स्वरूपभूता दृष्टि है (जैसे अग्नि की उष्णता एवं प्रकाश) वह नित्य है, उसकी उत्पत्ति आदि नहीं होती। फिर भी उपाधिभूत क्रियमाणा दृष्टि से संसृष्ट होने के कारण ही उसमें दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति आदि का व्यवहार होता है। चक्षुरादिजन्य रूपाद्याकारा वृत्तिरूप दृष्टि भी नित्य आत्मभूत दृष्टि से संसृष्ट ही रहती है। उसी दृष्टि का द्रष्टा साक्षी आत्मा कहा जाता है। 'न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः, न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथा, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः'।—बृ० ३।४। 'य द्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति'; 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्'; 'नतु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत्पश्येत्'।—बृ० ४।३।२३। इस श्रुति में स्पष्ट ही कहा गया है। सुषुप्ति में आत्मा नहीं देखता ऐसा जो कहा जाता है यह सही नहीं है। आत्मा त्रिकालाबाध्य बोधस्वरूप

है। अतः वह देखता हुआ ही नहीं देखता। चक्षुरादि करणों के उपरत हो जाने से और उससे विभक्त अन्य द्वितीय द्रष्टव्य विषय का अभाव होने से नहीं देखता। स्वतः बोधस्वरूप है। इसलिये वह सदा ही भासता रहता है। जैसे सूर्य अपने नित्य प्रकाश से सदा प्रकाशता है। इसी तरह अपनी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि से आत्मा नित्य ही देखता (प्रकाशता) है। क्योंकि उसकी स्वरूपभूत नित्य दृष्टि का कभी विपरिलोप नहीं होता। यह वही नित्य दृष्टि है जिसके द्वारा जागर का अन्ध भी स्वप्न में रूप देखता है। यह वही श्रुति है जिससे वधिर भी स्वप्न में शब्द सुनता है। यही एकरस आत्मस्वरूपभूत दृष्टि विभिन्न अनित्य अन्तःकरणवृत्तिरूप दृष्टि, श्रुति, मति, विज्ञाति, घ्राति, रसयति, वक्ति, स्पृष्टि, विज्ञातिरूप उपाधियों के द्वारा दृष्टि, घ्राति, मति, श्रुति, विज्ञान आदि शब्दों से व्यपदिष्ट होती है।

यदि द्रष्टा विज्ञाता आदि शब्दों से अहङ्कारविशिष्ट आत्मा ग्राह्य हो तो 'द्रष्टा की दृष्टि' इसका अर्थ यह है कि द्रष्टा आदि को प्रकाशनेवाली द्रष्टृविषयिणी साक्षिरूपा दृष्टि नित्य ही है। उसका संकोच, विकास, उत्पत्ति, विनाश आदि कुछ न मानना पड़ेगा। अनुच्छित्तिधर्मा का यह अर्थ नहीं है कि उसके ज्ञानरूप धर्म का उच्छेद नही होता किन्तु उच्छित्ति का अर्थ उच्छेद है। उच्छेद जिसका धर्म नहीं है वह आत्मा ही अनुच्छित्तिधर्मा है। 'न उच्छित्तिर्धर्मो यस्य स अनुच्छित्तिधर्मा।' अविनाशी शब्द से विक्रिया का निषेध किया गया है। अनुच्छित्तिधर्मा शब्द से उच्छेदराहित्य कहा गया है। 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना' आदि वचन भी स्फुरणरूप नित्यबोध में ही सार्थक हैं। संकोच विकासशाली ज्ञान तो विकारी एवं अनित्य ही ठहरता है। प्रकाश और आकाशादि का दृष्टान्त उसमें संगत न होगा। जैसे मलक्षालन से रत्नप्रभा प्रकट होती है, कूप खनने से जल आकाशादि व्यक्त होते हैं, उसी तरह चक्षुरादि प्रमाणों तथा तज्जन्य वृत्तियों से अज्ञानरूपी मल के हटने पर आत्मा का स्वरूपभूत नित्यबोध प्रकट होता है—'तत्राज्ञानं धिया नश्येत् आभासेन घटः स्फुरेत्।'

अभेद होने पर भी अद्वैतवाद में सत्य, ज्ञान, आनन्दादि आत्मा के औपचारिक धर्म माने गये हैं। इस तरह यदि साभास बुद्धि वृत्तिरूप और नित्य बोधरूप दो ज्ञान मानते हैं तब तो ज्ञान की उत्पत्ति आदि का व्यवहार वृत्ति को लेकर सार्थक है। ज्ञाननित्यत्वबोधक श्रुतियों तथा सर्वभासकत्व, स्वयं-

प्रकाशत्वसाधक युक्तियों एवं अनुभूतियों की उपपत्ति नित्यबोध रूप आत्मा को लेकर उपपन्न हो जाती हैं। नित्य स्वप्रकाश अहमर्थ को आत्मा मानना और उसका भी सुप्ति में अप्रकाश मानना, अननुभूत, अप्रमाणिक, अंशतः प्रकाश अंशतः अप्रकाश मानना, धर्मभूत ज्ञान को नित्य भी कहना और उसकी उत्पत्ति-नाश का भी समर्थन करना, एक कहना और उसके अनेकत्व की उपपत्ति का ढूँढना, घटादि के समान उत्पत्ति मानकर भी सत्कार्य के सहारे उसकी नित्यता का समर्थन करना, यह सब आयास निरर्थक ही है। फिर तो नैयायिकों के समान कर्मसव्यपेक्ष, मनःसंयोगादिजन्य, क्षणिक, अनन्तगुणात्मक ज्ञान ही मानना श्रेष्ठ है। अतः श्रुति, युक्ति तथा अनुभूति के अनुसार साभास वृत्तिरूप ज्ञान अनित्य है। वृत्त्यादिभासक सर्वनिरपेक्ष स्वप्रकाश स्वतःसिद्ध ज्ञान नित्य है। वही आत्मा है।

कहा जाता है कि इष्टसिद्धि तथा ब्रह्मसिद्धि आदि प्राचीन ग्रन्थों में प्रकाशात्मक ज्ञान की उत्पत्ति विनाश का खण्डन करके लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही नित्य सिद्ध किया गया है। अतः प्रसिद्ध ज्ञान से भिन्न कोई नित्य ज्ञान मानना प्राचीन अद्वैत सिद्धान्त के विरुद्ध है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि पीछे कहा जा चुका है कि प्रसिद्ध देहादिविशिष्ट आत्मा को ही उपाधि-निरसन के द्वारा उपाधिनिष्कृष्ट शुद्ध असङ्ग चित् रूप सिद्ध किया जाता है। उसी तरह वृत्ति पर अभिव्यक्त स्फुरण या चित् को उपाधिनिरसन द्वारा उपाधि-निष्कृष्ट अनादि, अनन्त, नित्यबोध सिद्ध करने में कोई हानि नहीं है।

'वृत्तियाँ जड़ हैं, उनको ज्ञान कहना संगत नहीं' इत्यादि कथन भी निःसार है क्योंकि सत्व को प्रकाशक कहा ही गया है, सत्व से ज्ञान की उत्पत्ति मानी ही गयी है। फिर इसमें क्या आपत्ति हो सकती है? इसी तरह यह भी कहा जाता है कि अद्वैती मानते हैं कि "ज्ञान रूप ब्रह्म सदा अपने को प्रकाशित करता रहता है। वह सदा स्वानुभव में मग्न है। अध्यस्त वृत्ति से अवच्छिन्न जब होता है तब उस वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से ही विषय का प्रकाश होता है। परन्तु जड़ वृत्ति से अवच्छिन्न स्वरूपमात्र निर्विषय चैतन्य से विषयों का प्रकाश असंभवित है।" यह कहना भी अशुद्ध और निःसार है। ज्ञानरूप ब्रह्म अपने को प्रकाशित करता है यह अद्वैती कभी नहीं मानते। स्व से स्व का प्रकाश अद्वैती को मान्य नहीं क्योंकि वही कर्ता, वही कर्म नहीं हो सकता, किन्तु स्वप्रकाश शब्द से ही प्रतिवादी को ऐसी भ्रान्ति हुई है। अद्वैती

तो अवेद्य होकर अपरोक्ष वस्तु को स्वप्रकाश कहते हैं। अनन्यावभास्य होकर स्वेतर सर्वभासक होना ही ज्ञान या ब्रह्म का स्वप्रकाशत्व है। स्वानुभाव में मग्न रहता है यह भी सुनीसुनायी बात है। ब्रह्म अनुभवरूप है, उसका न अनुभव ही होता है न वह अनुभव में मग्न ही होता है। हाँ,- कोई ज्ञानी ब्रह्माकार चरमावृत्तिरूप अनुभव में मग्न हो सकता है और वह वस्तुतः ब्रह्मरूप होते हुए भी साधक दशा में अहङ्कारविशिष्ट अहमर्थ ही है। सत्त्व जैसे जड़ होते हुए भी पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रकाशक है वैसे ही वृत्ति भी प्रकाशक है। वृत्तिव्यक्त चैतन्य के प्रकाशकत्व में कोई विवाद ही नहीं। वह निरूपाधिकरूप से निर्विषय होने पर भी वृत्त्युपहित होकर प्रकाशक एवं सविषय होता ही है। जैसे प्रतिवादी अहमर्थ आत्मा को निर्विषय मानता हुआ धर्मभूत ज्ञान के द्वारा विषय का ग्राहक मानता है, वैसे ही अद्वैती ब्रह्मरूप ज्ञान को निर्विषय मानने पर भी बुद्धिवृत्ति के द्वारा उसे विषयग्राहक मानते हैं।

वस्तुतस्तु अहमर्थ कभी निर्विषय एवं निर्विशेष होता ही नहीं। अहमर्थ ज्ञाता, मन्ता, कामयिता आदि रूप से ही प्रसिद्ध है। उसको निर्विशेष न कोई भी दार्शनिक मानता है न लोक ही किन्तु ज्ञानरूप ब्रह्म में तो विषय अध्यस्त है। अधिष्ठान ज्ञान से अध्यस्त का बाध होने से उसकी निर्विषयता स्वाभाविक ही है। समाधि तथा मुक्ति में प्रपञ्चबाध होने पर पूर्ण निर्विषयत्व होता है। सुप्ति, मूर्छा आदि में यद्यपि अज्ञान, मोह आदि भास्य रहते हैं तथापि शब्दादि विषयविशेष न होने से उस समय भी निर्विशेष ज्ञान समझा जाता है। मोक्ष में धर्मभूत ज्ञान सर्वविषयक होता है यह मत अद्वैती को भी मान्य नहीं है। सर्वविषयक प्रकाश होने से अनुकूल-प्रतिकूल, सुख दुःख सबका ही अहमर्थ को अनुभव होगा तो उसे संसार की अपेक्षा भी अधिक बन्ध होगा फिर उसे कैसे मुक्ति कहा जाय? 'ज्ञान सामान्य का अभाव सुषुप्ति है' इसका अर्थ इतना ही है कि अन्तःकरणवृत्तिरूप ज्ञानसामान्य का सुप्ति में अभाव रहता है। सौषुप्ततम और सुख का भासक साक्षिरूप ज्ञान तो सुप्ति में भी रहता है। तभी तो अवस्थात्रय साक्षी आत्मा सिद्ध होता है। फिर प्रतिवादी भी तो सुप्ति में अहमर्थ का प्रकाश मानने ही लगे हैं। फिर उनके मत से भी प्रकाश सामान्याभाव कैसे कहा जा सकता है? यह दूसरी बात है कि प्रतिवादी निर्विशेष प्रकाश न मानकर सविशेष प्रकाश मानता है। यद्यपि निर्विशेष प्रकाश के होने पर भी वृत्तिरूप सविशेष ज्ञान न होने से सुप्ति उपपन्न होती है, सविशेष ज्ञान के रहने से सुप्ति सिद्ध ही नहीं होती, इसी

लिये नैयायिक आदि ज्ञानसामान्य का अभाव मुक्ति मानते हैं। अहमर्थ होगा तो उसका धर्म भी अवश्य रहेगा और वैसा रहने पर मुक्ति बन ही नहीं सकती यह कहा जा चुका।

प्रतिवादी के यहाँ निर्विषयक ज्ञान होता है परन्तु उसका प्रकाश नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो प्रकाशस्वरूप ही होता है। ज्ञान हो और प्रकाश न हो यह असंगत ही है। अतः अहमर्थ से भिन्न अहङ्कारादि का साक्षी अखण्डः बोध स्वरूप ही आत्मा है। सभी साक्ष्य एवं विषय उसी में अध्यस्त हैं। अत-सर्वबाध होने पर सर्वनिरपेक्ष होकर आत्मा निर्विषिय एवं निर्विशेष ही है।

"रूपं यत्तत्प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्मज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं सत्वं साक्षाद्विष्णुरध्यात्मकदीयः॥"

श्रीमद्भागवत १०।३।२४।

ज्ञान का स्वप्रकाशत्व

अनुभव को भी व्यवसाय अनुव्यवसाय रूप से दो प्रकार का मानकर अनुभव विषयक अनुभव का समर्थन नैयायिक आदि मानते हैं, परन्तु यदि अनुभव विषयक अनुभव माना जायगा तो अनवस्था प्रसंग होगा साथ ही अनुभव की अविज्ञातता भी माननी पड़ेगी। परन्तु अनुभव की विद्यमानता में अनुभव का अज्ञान अनुभूत नहीं होता। यदि सुखादि के तुल्य ज्ञान की अबुभुत्सितग्राह्यता मानकर अनुभवविषयक अनुभव माना जायगा तो उसकी ही धारा चलती रहेगी। फिर अन्य विषयक ज्ञान ही न होंगे। जिस अन्तिम अनुभव का अनुभव न होगा वही अप्रामाणिक होगा। फिर अप्रामाणिक अनुभवों से सिद्ध पूर्व पूर्व अनुभव सभी अप्रामाणिक ठहरेंगे और उसका विषय भी अप्रामाणिक होने से सर्वशून्यता प्रसक्ति ही होगी। यदि किसी अन्तिम ज्ञान को स्वप्रकाश माना जाय तो पहले ही ज्ञान को स्वप्रकाश क्यों न माना जाय ?

इसी तरह ज्ञान से घटादि में तथा ज्ञानान्तर से ज्ञान में कोई प्राकट्य या प्रकाशरूप धर्म उत्पन्न होता हुआ दृष्टिगोचर होता नहीं। इसी लिये ज्ञान होने पर हमें ज्ञान है या नहीं ऐसा संशय नहीं होता। जैसे रूपादि घटादि का चाक्षुषत्व सिद्ध करता हुआ अपना भी चाक्षुषत्व सिद्ध करता है उसी प्रकार ज्ञान घट एवं अपना दोनों ही के व्यवहार का हेतु होता है।

कुछ लोग कहते हैं—"मैं जानता हूँ इस अबाधित प्रतीति के अनुसार अहमर्थ में ज्ञान उत्पन्न होकर विषयों को प्रकाशित करता है। वह ज्ञान विषय प्रकाशन काल में उस अहमर्थ के प्रति स्वयं प्रकाशता रहता है। किन्तु अन्य समय में वह अहमर्थ के प्रति नहीं प्रकाशता। इसी तरह देवदत्त को होनेवाले ज्ञान यज्ञदत्त के प्रति नहीं प्रकाशते। अनुमान के द्वारा अन्य का ज्ञान जाना जाता है। अपने को भी अतीत ज्ञान के स्मरण से ही बोध होता है। अतः ज्ञान स्वप्रकाश है, इसका यही अर्थ है कि वह विषय प्रकाशने के समय अपने आश्रय के प्रति स्वयं प्रकाशता है। 'अनुभूति अनुभाव्य होगी तो उसमें अनुभूतित्व ही नहीं रहेगा।' यह कहना भी ठीक नहीं, कारण स्वगत अतीत अनुभव एवं परगत अनुभव अनुभाव्य होते ही हैं। फिर उनमें

भी अनुभूतित्व न होना चाहिये। इसलिये वर्तमान दशा में स्वसत्ता से स्वाश्रय के प्रति प्रकाशमानत्व ही अनुभूतित्व है।" परन्तु यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी के मत में ज्ञान नित्य द्रव्य होने से वह सदा ही वर्तमान होता है, फिर उसमें विषय वर्तमान दशा यह विशेषण व्यर्थ ही है।

कहा जाता है "वर्तमान दशा शब्द से विषय सम्बन्ध प्रसार की वर्तमानता इष्ट है।" पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जब ज्ञान या अनुभव नित्य द्रव्य मान्य है तो फिर अनुभव की अतीतता कैसे कही जा सकती है? जो वस्तु पूर्व काल में रही हो अब न हो वही अतीत कही जा सकती है। 'अनुभव का विषय सम्बन्ध प्रसर अतीत है। इसलिए अनुभव में अतीतता का उपचार होता है।' यह कथन भी असंगत ही है क्योंकि यदि प्रदीप एवं प्रभा के तुल्य ज्ञान में दो अंश हों तभी यह उपपत्ति हो सकती है। अतः प्रश्न होगा प्रदीप स्थानीय नित्य ज्ञान द्रव्य क्या है और प्रभा स्थानीय क्या है और उसका प्रसर क्या है? यदि कहा जाय कि अन्तःकरण नित्य द्रव्य ज्ञानात्मक है, उसका विषय के साथ सम्बन्ध ही प्रसर है पर यह पक्ष ठीक नहीं क्योंकि पञ्चभूतों के समष्टि सत्वांश कार्य अन्तःकरण सादि है। वह नित्य नहीं हो सकता है 'तन्मनोऽकुरुत' छा० श्रुति में मन की कार्यता स्पष्ट रूप से उक्त है।

प्रतिवादी के मत में भी प्रकृति, पुरुष एवं ईश्वर इन तीन पदार्थों की ही नित्यता है अन्य की नहीं। यदि कहा जाय कि प्रकृति ही वह नित्य ज्ञान द्रव्य है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वह अनादि होने पर भी जड़ है। अतएव प्रकृति कार्य में सर्वत्र जड़ता दृष्ट है। ईक्षत्यधिकरण से भी उसकी जड़ता सिद्ध है। इस तरह जड़ होने से अन्तःकरण भी ज्ञान द्रव्य नहीं हो सकता। यदि प्रकृति या अन्तःकरण नित्य ज्ञान है तब तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्मलक्षण प्रकृति या अन्तःकरण में अतिव्याप्त होगा। यदि कहा जाय कि पुरुष ही नित्य ज्ञान द्रव्य है तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि प्रतिवादी के मत में पुरुष तो ज्ञाता है; ज्ञान उससे भिन्न ही उसे मान्य है। पुरुष में ज्ञातृत्व है, ज्ञानत्व नहीं। ईश्वर ही नित्य ज्ञान द्रव्य है यह भी पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि ईश्वर ही तो ब्रह्म है और ब्रह्म और ज्ञान में प्रतिवादी को भेद ही मान्य है। इसलिये नित्य ज्ञान द्रव्य क्या है यह दुर्निरूप ही है।

कहा जाता है कि "जीव ईश्वर का स्वरूपभूत ज्ञान यहाँ अनुभव शब्द से नहीं कहा जाता है किन्तु दोनों का धर्मभूत ज्ञान ही अनुभव शब्द से कहा जाता

है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो धर्मभूत ज्ञान गुण ही होगा द्रव्य नहीं, क्योंकि नित्य ज्ञानानन्दादि गुणवाला ईश्वर है, यही प्रतिवादी को मान्य है। यदि कहा जाय कि जीव और ईश के स्वरूपभूत एवं गुणभूत ज्ञान से अन्य ही धर्मभूत ज्ञान है, वही नित्य द्रव्य है; तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यह कल्पना निराधार है। अतः नित्य ज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही है। जो गुणभूत ज्ञान है वह तो अनित्य ही है और वह है वृत्तिज्ञान, उसी में अतीतता आदि बन सकती है। उसी का स्मरण और अनुमान तथा शब्दबोध्यत्व आदि संभव है। सर्वथापि जन्म नाशवान् अनुभव वृत्तिज्ञान ही है, नित्यज्ञान नहीं और वह स्वयंप्रकाश भी नहीं है, ब्रह्म भी नहीं है। वह अनुभाव्य है। उसमें अननु-भूतित्व इष्ट ही है।

अज्ञासिषम् (जाना था) यह प्रतीति उसी के संबंध में होती है। घटं जानामि यह प्रतीति वर्तमान घट विषयक है। घटमज्ञासिषम् यह प्रतीति अतीत घट विषयक है। वृत्तिज्ञान अद्वैत मत में मुख्य अनुभूति नहीं माना जाता। प्रतिवादी का अनुभूति लक्षण सुखादि में अतिव्याप्त है। सुखादि भी वर्तमान दशा में अपने आश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही प्रकाशमान है। अप्रकाशमान सुख की सत्ता नहीं होती है। जब सुख उत्पन्न होता है तभी प्रकाशता है।

कुछ लोग कहते हैं सुखाकार अन्तःकरण वृत्ति से सुख का प्रकाश होता है। परन्तु यह ठीक नहीं; क्योंकि सुखरूप अन्तःकरण परिणाम ही तो सुख है। कहा जाता है कि अन्तःकरण की दो प्रकार की वृत्ति होती है। कोई काम क्रोधादि रूप और कोई तद् ज्ञान रूपा, अतः अन्तःकरण के सुखरूप परिणाम के साथ तदाकार वृत्ति भी उत्पन्न होती है, उसी वृत्ति से सुख भासमान होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो सुख के समान ही अन्तःकरण वृत्ति भी अपने तथा अन्य को नहीं प्रकाशन करेगी। अन्तःकरण जड़ है तब उसकी वृत्ति जड़ होनी ही चाहिये। यदि कहा जाय कि अन्तःकरण अजड़ (चेतन) है; फिर तो उसका परिणामभूत सुख भी अजड़ ही होना चाहिये और अन्तःकरण की उपादानभूता प्रकृति भी अजड़ ही होनी चाहिये। अतः यदि वृत्ति स्वसत्ता से ही प्रकाशमान होती है तब तो फिर सुख भी वैसे ही होगा। इस सुखादि में प्रतिवादी के ज्ञान का लक्षण अवश्य ही अतिव्याप्त होगा। किञ्च 'अनुभूति स्वाश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही प्रकाशती है', इसका क्या अर्थ है ? क्या यह कि अनुभूति स्वाश्रय के प्रति स्वसत्ता से ही अपने को प्रकाशित करती है ? अथवा

अनुभूति के उत्पन्न होने पर मुझे अनुभूति हुई यह पुरुष स्वतः जान लेता है? पहले पक्ष में कर्मकर्तृ विरोध होगा; इसके अतिरिक्त ग्राह्य काल में ग्राहक न रहेगा और ग्राहक काल में ग्राह्य न रहेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि मुझे अनुभूति उत्पन्न हुई इस प्रकार जो पुरुष की अनुभूति होती है वह प्रथमानुभूति से भिन्न है अथवा अभिन्न? प्रथम पक्ष में अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। द्वितीय पक्ष में आत्माश्रय। इस प्रकार अनुभूति की अनुभाव्यता कहना कठिन है। हां वृत्तिरूप अनुभूति तो चैतन्यावभास्य होने से अनुभाव्य है ही। परन्तु ज्ञानस्वरूप अनुभूति तो चैतन्यरूप ही है। अतः वह चैतन्यावभास्य नहीं। 'चैतन्य भी दूसरे चैतन्य से भास्य है' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि चैतन्यान्तर है ही नहीं। 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुति से चैतन्य की सर्वविध भेदशून्यता सिद्ध है। चैतन्य ही ब्रह्म है, वही आत्मा भी है। वृत्तिज्ञानों का नानात्व होने पर भी शुद्ध ज्ञान का नानात्व असिद्ध ही है। अतएव उसमें परानुभवत्व स्वानुभवत्व नहीं बन सकता। स्व एवं पर प्रमाताओं का वास्तविक अनुभव स्वरूप ही है। जैसे प्रतिवादी का ब्रह्म स्वतःसिद्ध है वैसे ही चैतन्य भी स्वतःसिद्ध है, वही स्वयं प्रकाश, अनन्त, अद्वितीय, नित्य अनुभव ही ब्रह्म है। विषयेन्द्रिय सन्निकर्षजन्य अनुभव वृत्तिरूप है, वह ब्रह्म नहीं है किन्तु वृत्ति एवं उसके जन्म एवं ध्वंस का साक्षिरूप अखण्ड बोध ही ब्रह्म है। नित्य वस्तु परतः सिद्ध नहीं होती, प्रकृति कालादि परतः सिद्ध वस्तुतः नित्य नहीं हैं। ब्रह्मभिन्न सब अनित्य ही है। अनुभाव्यत्व अनुभवत्व का सामानाधिकरण्य नहीं होता। अनवस्था भी इस तरह अनुभवान्तर से अनुभव का अनुभव मानने से होगी। वृत्तिरूप अनुभव का ब्रह्म से विषय विषयि भाव कथञ्चित् हो भी तो भी वह वास्तविक नहीं।

कहा जाता है कि ब्रह्म को ज्ञेय कहा गया है। ज्ञेय ज्ञान का विषय होता है। परन्तु यह ठीक नहीं, ज्ञान का ज्ञान विषय हो सकता है तो ऐसा हो सकता है। 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति स्पष्ट ही ब्रह्म को ज्ञानरूप बतलाती है। अतः वृत्तिव्याप्यत्व रूप ज्ञेयत्व ब्रह्म में होने पर भी फलव्याप्यत्व रूप ज्ञेयत्व नहीं रहता। यदि कहा जाय कि वृत्ति भी अज्ञेय रहती है तो यह ठीक नहीं, वृत्ति सदा ही साक्षी से भास्यमान रहती है। अतएव वृत्ति स्वप्रकाश भी नहीं है। वृत्तिव्यक्त चैतन्यरूप ज्ञान ही स्वप्रकाश है। वृत्ति का जन्म नाश अनुभूत होता है। अनन्यावभास्य होकर जो स्वेतर सर्वभासक है वही स्वप्रकाश होता है, यह नित्यज्ञान में ही संभव है अनित्यवृत्ति में नहीं।

वृत्ति का जन्म नाश वृत्ति से नहीं विदित होता क्योंकि जन्म नाश दशा में वृत्ति होती ही नहीं। अतः किसी अन्य से ही वृत्ति का जन्म नाश विदित होना चाहिये। अन्यथा निःसाक्षिक जन्म नाश अप्रामाणिक ही होगा। जिससे वृत्ति का जन्म नाश विदित होता है वृत्ति भी उसी से विदित होती है। ज्ञान किसी से भासित नहीं होता और वह स्वभिन्न सबका प्रकाशन करता है। कुछ लोग कहते हैं वह स्वयं को भी प्रकाशता है परन्तु यह ठीक नही है। एक एवं निरंश में युगपत् भास्यत्व भासकत्व नहीं बन सकता। अतः ज्ञान स्वयं भासता है अपने से भासित नहीं होता।

कहा जाता है वृत्ति और वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य की कल्पना निराधार है परन्तु यह कहना ठीक नहीं, विषयेन्द्रियादि जनित उत्पत्ति विनाशशाली वृत्ति पदार्थ अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसके बिना इन्द्रिय अन्तःकरणादि की सर्वथा निरर्थकता ही सिद्ध होती है। अहमर्थ का धर्मभूत ज्ञान तो प्रतिवादि के मतानुसार नित्य ही है। फिर उसमें इन्द्रिय, मन आदि का व्यापार व्यर्थ ही होगा। धर्मभूत ज्ञान सिद्ध नहीं होता यह पीछे कहा जा चुका। 'वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य स्वप्रकाश ब्रह्म ही है' अद्वैतियों के इस कथन का यही अर्थ है कि वृत्ति से उपलक्षित चैतन्य ब्रह्म है। वृत्तिविशिष्ट तो वृत्ति के अनित्य एवं प्रकाश्य होने से उस अंश में अनित्य एवं वेद्य होगा ही। स्वयंप्रकाश शुद्ध चैतन्य में कोई प्रमाण नही है यह कहना साहसमात्र है।

घटावच्छिन्न आकाश से भिन्न अनवच्छिन्न आकाश जैसे सिद्ध होता है वैसे ही वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य से भिन्न अनवच्छिन्न चैतन्यरूप ब्रह्म सिद्ध है। श्रुति स्पष्ट ही अनन्तज्ञान को ब्रह्म कहती है 'ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'; प्रत्युत अन्तःकरण वृत्ति से भिन्न विकासावस्था विशिष्ट धर्मभूत ज्ञान ही सर्वथा अप्रामाणिक है। जो वस्तु कभी विकासावस्था विशिष्ट होकर स्वप्रकाश और कभी विकासरहित होकर अस्वप्रकाश हो वह स्वयं अनेकरस विकारी तथा अनित्य ही सिद्ध होगी। जैसे संकोच विकासादि अवस्थायुक्त पुष्पादि अनित्य ही होते हैं वही दशा धर्मभूत ज्ञान की होगी। इससे अच्छा है कि सर्वसंमत साभास अन्तःकरण वृत्ति को ही ज्ञान माना जाय। उसी वृत्तिरूप ज्ञान का सुषुप्ति में अभाव अनुभूत होता है किन्तु वृत्तिज्ञान का अभाव एवं भावभूत अज्ञान का भासक नित्य चैतन्य तो सदा ही रहता है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों ही अन्तःकरण की वृत्ति हैं। वे सब जिससे भासित होती हैं वह साक्षी अध्यक्ष अति स्पष्ट है —

"जाग्रत् ,स्वप्न, सुषुप्त्याख्या वृत्तयो बुद्धिजाः स्मृताः ।
ता येनैवानुभूयन्ते सोध्यक्षः पुरुषः परः ॥" श्रीमद्भागवत् ।

ज्ञान घटादि के तुल्य ज्ञेय होनेसे वैसे ही अनित्य और जड़ भी ठहरेगा अतः ज्ञान भासक ही है भासित नहीं होता। ज्ञान का प्रागभाव एवं ध्वंस भी नहीं होता। लौकिकों को साभास वृत्तियों में ही ज्ञान का भ्रम होता है, वृत्तियों का ही प्रागभाव आदि भासित होता है। शिष्यादि का ज्ञानप्राग-भावादि भी वृत्ति का ही प्रागभाव है। इस तरह जितना भर भी ज्ञान के ज्ञान होने के सम्बन्ध में प्रपञ्च किया गया है वह सभी साभास वृत्ति को लेकर गतार्थ हो जाता है। अतीत ज्ञान का स्मरण, अन्य ज्ञान का अनुमान आदि सब वृत्ति-ज्ञान में ही शामिल है। नित्य एक अखण्ड ज्ञान में प्रागभाव, प्रध्वंस, अतीतता, अनागतता तथा भिन्नता आदि कुछ भी नहीं बनती है।

नित्य और अतीत यह कहना विरुद्ध है। विलक्षण प्रवृत्ति निवृत्ति देखकर ज्ञानों का अनुमान एवं संविद् अनुभूति आदि शब्दजन्य ज्ञानों की विषयता आदि सभी वृत्तिरूप ज्ञानों के सम्बन्ध में ही कहा जा सकता है। शुद्ध बोधरूप ब्रह्म तो सर्वथा अवाच्य एवं अविषय ही है। प्रवृत्ति निवृत्ति का हेतु विशिष्ट ज्ञान होता है। जिज्ञासा, संशय, अवगति, अनवगति आदि का विचार भी विशिष्ट ज्ञान के सम्बन्ध में ही होता है। वह विशिष्ट ज्ञान साभास वृत्ति ही है। उसी के स्मरणानुमानादि गोचर होने से प्रतिवादियों को ज्ञान के स्मरणादि का भ्रम होता है। इसी से वे ज्ञान को भी ज्ञेय मानने लगते हैं। उनका यह कथन भी निःसार है कि "ज्ञान को ज्ञेय न मानने से ब्रह्मप्रतिपादक शास्त्र व्यर्थ होंगे। क्योंकि अद्वैती के मत में ज्ञानस्वरूप ही तो ब्रह्म है। शास्त्रों में स्पष्ट कहा है कि ब्रह्म जाननेवाला ब्रह्म को प्राप्त होता है। 'वचसां वाच्यमुत्तमम्' इत्यादि वाक्य ब्रह्म को वाच्य ही कहते हैं। यदि ज्ञानस्वरूप ब्रह्म ज्ञेय न होगा तो वेदान्त प्रतिपाद्य क्या होगा? 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' ब्रह्मसूत्र ने ब्रह्म को जिज्ञास्य (विचार्य) कहा है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासि-तव्यः', 'सन्तमेनं ततो विदुः' इत्यादि वचन ब्रह्मरूप ज्ञान को द्रष्टव्य, श्रोतव्य, निदिध्यासितव्य कहते हैं। यदि ब्रह्म ज्ञान का विषय ही नहीं तो उक्त वचन निरर्थक ही सिद्ध होंगे। शास्त्रयोनित्वात् सूत्र भी ब्रह्म को शास्त्रगम्य कहता है। 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' परम पुरुष परमात्मा उपनिषदों से ही जाना जाता है। इस तरह ज्ञानरूपी ब्रह्म में ज्ञेयता स्पष्ट है।" कहना न होगा कि

उपर्युक्त कथन वचनों का तात्पर्य न जानने से ही हो सकता है क्योंकि सर्वत्र ही वेदान्तादि वाक्यजन्य अन्तःकरणवृत्ति व्यापता ही आवरण निवृत्यर्थ ब्रह्म में मान्य है। ब्रह्म स्वप्रकाश है अतः जैसे दीपक के प्रकाशनार्थ दीपान्तर अपेक्षित नहीं होता है वैसे ही स्वप्रकाश अनन्तज्ञान स्वरूप ब्रह्म के प्रकाशनार्थ वृत्तिव्यक्त फलरूप प्रकाश अपेक्षित नहीं होता है। विचार, दर्शन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन सब अन्तःकरण वृत्ति ही हैं वही उत्पन्न होनेवाली चीज है। नित्य ज्ञान किसी साधन से उत्पन्न नहीं होता है, उपनिषदादि शास्त्र द्वारा ब्रह्माकार वृत्ति ही उत्पन्न होती है। वृत्ति से अनादि अनिर्वचनीय अज्ञानरूप आवरण भङ्ग होता है। स्वप्रकाश ब्रह्म स्वतः प्रकाशरूप है ही। जैसे घटादि प्रावरणों से प्रावृत दीपादि के प्रकाश के लिये प्रावरण भङ्ग ही अपेक्षित होता है दीपादि प्रकाश अपेक्षित नहीं होता, वैसे ही स्वप्रकाश ब्रह्म के प्रकाशार्थ आवरण भङ्ग ही अपेक्षित होता है प्रकाश नहीं, जैसे घटादि अस्वप्रकाश वस्तु के प्रकाशार्थ दीप अपेक्षित होता है वैसे ही वस्तु के प्रकाशार्थ ही वृत्तिव्यक्त चैतन्य की अपेक्षा होती है। ज्ञान या ब्रह्म किसी शब्द का शक्तिवृत्ति द्वारा वाच्य या प्रतिपाद्य न होने पर भी लक्षणा वृत्ति, तात्पर्य वृत्ति या अतद् व्यावृत्ति के द्वारा आवरण निवर्तक वृत्ति जनन करता है। इसी लिये उक्त श्रुतिसूत्र ब्रह्म को शास्त्रप्रतिपाद्य कहते हैं। इसी लिये श्रुति स्पष्ट कहती है कि जो सबका विज्ञाता है उसको किससे जाना जाय? मन के साथ वाणी जिसको प्राप्त न करके निवृत्त हो जाती है 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात् येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्', 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह', 'यस्या मतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः', 'अविज्ञातं विजानताम् विज्ञातमविजानताम्।' जो ब्रह्म को मन बुद्धि आदि का विषय जानता है वह नहीं जानता; जो मन, बुद्धि के अविषय अतएव स्वप्रकाशरूप से जानता है वही जानता है।

प्रतिवादी उपर्युक्त वचनों के सम्बन्ध में कहते हैं कि "मतं विज्ञातम्' आदि शब्दों से ब्रह्म को मत और विज्ञात ही कहा गया है। ऐसे ही 'येन, तथ, यतः' आदि पदों से भी ब्रह्म का ज्ञान ही कहा गया है। उन पदों से वेद्य न होने पर ब्रह्म का अज्ञेयत्व भी सिद्ध नहीं होता। ब्रह्म अज्ञेय है इस कथन में भी ब्रह्म शब्द द्वारा ब्रह्म ज्ञेय ही होता है अन्यथा ब्रह्म की अज्ञेयता नहीं सिद्ध होगी। फिर भी 'अमतं मतं विज्ञातं अविज्ञातं' इन विरुद्ध धर्मों का समन्वय आवश्यक है। इस प्रकार से हो सकता है कि ब्रह्म उपनिषदुक्त गुण विभूति विशिष्ट रूप से ज्ञात होता है और रूपादि गुणों से रहित होने के कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से

अमत एवं अज्ञात ही रहता है। तथा ब्रह्म कतिपय रूपविशिष्ट रूप में विदित होने पर भी परिपूर्ण रूप से ज्ञात नहीं होता अर्थात् किञ्चित् रूप से ब्रह्म जाना जा सकता है परिपूर्ण रूप से नहीं। 'विज्ञातारमरे' इत्यादि के सम्बन्ध में भी प्रतिवादी का कहना है कि जाननेवाले आत्मा को परिश्रम से जानना होगा। बाह्य पदार्थों के प्रकाशक चक्षुरादि से आत्मा नहीं जाना जाता। 'येनेदं विजानाति तं केन विजानीयात्' इसका अर्थ यह है कि जिस परमात्मा के अनुग्रह से जीव सब को जानता है उसके अनुग्रह बिना उसको कौन जान सकता है? 'यतो वाचो' का यह अर्थ है कि ब्रह्मानन्द इतना है ऐसा वाक् के द्वारा परिच्छेद करके नहीं कहा जा सकता। इतना है यह मन भी नहीं जानता। सर्वथा अज्ञेय होने पर तो 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' इत्यादि से ब्रह्म का ज्ञान कहना असंगत ही होगा। 'न शब्द गोचरः' का यह अर्थ है कि देहादि सम्बन्ध रहित परिशुद्ध आत्मस्वरूप देवदत्त आदि शब्दों द्वारा नहीं बताया जा सकता। यदि सर्वथा अज्ञेय हो तो उसमें ध्येयता भी कैसे बनेगी?" परन्तु उपर्युक्त कथन श्रुतितात्पर्य विरुद्ध एवं अनेक अध्याहार करने पर भी असंगत ही है। श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्ट रूप से ब्रह्म विदित या मत है। रूपादिग्राहक प्रत्यक्षादि से अविदित है, यह कथन असंगत है क्योंकि अद्वैती भी श्रुतिसिद्ध गुणविभूतिविशिष्ट रूप से ब्रह्म को ज्ञेय मानते हैं। वे निर्गुण निर्विशेष रूप से ही ब्रह्म को अज्ञेय मानते हैं। 'निर्गुणं निष्क्रियं शान्तं' इत्यादि श्रुति प्रतिपादित ब्रह्म फिर किस प्रकार ज्ञात होगा? इसके अतिरिक्त यदि प्रत्यक्षादि में आगम भी ग्राह्य है तब वह तो आगमवेद्य प्रतिवादी को मान्य ही है, फिर वह प्रत्यक्षादि अवेद्य कैसे रहा? साथ ही विष्णु रामादि स्वरूप ब्रह्म तो प्रत्यक्षादि से भी वेद्य होते हैं। फिर क्या कारण है कि रूपादि गुण विशिष्ट ग्राहक प्रत्यक्षादि से ब्रह्म वेद्य नहीं हो। यदि कहा जाय कि ब्रह्म के गुण विभूति आदि अलौकिक हैं तब तो धर्मादि अलौकिक वस्तु भी प्रत्यक्षादि से नहीं विदित होते। प्रकृति आदि भी अलौकिक हैं फिर ब्रह्म ही क्यों अविदित हो? बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जो वेद से वेद्य हैं प्रत्यक्षादि से अवेद्य।

ऐसे तो परमाणु आदि भी प्रत्यक्ष से अवेद्य अनुमानादि से वेद्य हैं। फिर ब्रह्म में ही वेद्यता अवेद्यता के कथन का क्या महत्त्व है? इसी तरह किञ्चित् रूप से ब्रह्म जाना जाता है परिपूर्ण रूप से नहीं जाना जाता यह कथन भी निःसार है। अद्वैती भी इस तरह सोपाधिक रूप से ब्रह्म को ज्ञेय तथा निरुपाधिक रूप से अज्ञेय मानते हैं। फिर रूपान्तर से उसी का तो समर्थन

हुआ। परिच्छिन्न रूप ही किञ्चित् है अपरिच्छिन्न ही परिपूर्ण रूप है। आत्मा को परिश्रम से ही जानना होगा यह अर्थ करना भी निःसार है। न्याय, व्याकरण भी परिश्रम बिना नहीं जाना जाता फिर ब्रह्म ही की क्या बात है ? इसी तरह 'येनेदं सर्वं विजानाति' का अनुग्रह बिना कोई नहीं जानता यह अर्थ करना भी निःसार है। जब भगवदनुग्रह बिना जीव किसी चीज को नहीं जानता तो अनुग्रह बिना ब्रह्म के भी जानने का प्रसङ्ग ही कहाँ था जो उसका निषेध करते। ईश्वर के अनुग्रह बिना देह चक्षुरादि भी नहीं मिलते; फिर अनुग्रह बिना कोई भगवान् को नहीं जानता यह सिद्ध ही है। धर्म भी बिना अनुग्रह के नहीं जाना जाता, रूप भी बिना अनुग्रह के नहीं जाना जाता। इसके अतिरिक्त अनुग्रह की बात तो अद्वैती भी मानता है। अनुग्रह से मन एकाग्र होता है। अनुग्रह से निर्विघ्न श्रवणादि सम्पन्न होता है। अनुग्रह से ही अखण्डाकार वृत्ति उत्पन्न होती है। अनुग्रह से ही आवरण भङ्ग होता है। अनुग्रह से ही स्वप्रकाश रूप से भगवान् भासते हैं यह भी मालूम होता है।

"अथापि ते देव पदाम्बुज द्वय प्रसाद लेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्व भगवन्महिम्नो नचान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥"

'जेहि चाहहु तेहि देहु जनाई' इत्यादि वाक्यों का भी यही अर्थ है। भगवान् की कृपा से ही आवरण निवर्तक ब्रह्माकार वृत्ति पैदा होती है। इसका यह कभी अर्थ नहीं कि स्वप्रकाश स्वप्रकाश नहीं रह जाता, ज्ञान से ज्ञेय जड़ या अनित्य हो जाता है।

'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्' का भी यही अर्थ है कि ब्रह्मानन्दाकार वृत्ति होती है। परन्तु यह इसका अर्थ नहीं कि स्वप्रकाश ब्रह्म के प्रकाशार्थ प्रकाश अपेक्षित होता है, या दीप के प्रकाशार्थ दीपान्तर अपेक्षित होता है। हाँ, दीप के प्रकाशार्थ यद्यपि चक्षुरादि विजातीय प्रकाश अपेक्षित होता है परन्तु स्वप्रकाश बोधरूप ब्रह्म के प्रकाशार्थ तो सजातीय विजातीय कोई भी प्रकाश अपेक्षित नहीं होता। सजातीय प्रकाश की अपेक्षा तो दीपादि दृष्टान्त से ही निरस्त है। ब्रह्म विजातीय प्रकाश तो जड ही होगा फिर जड से चेतन के प्रकाश की कल्पना भी असंगत ही होगी। अतः श्रुतियों का सीधा अर्थ यही है कि आत्मा वृत्तिव्याप्य होने से ज्ञेय या मत है। फलव्याप्ति का अविषय होने से अविज्ञात एवं अमत होता है। मन, वाणी आदि से उसका प्रकाश नहीं होता अतः वह अविषय एवं अवाच्य

है। वेदान्त वाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्ति से तद्विषयक आवरण निवृत्त होता है फिर ब्रह्म स्वतः भासता है।

"फल व्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निराकृतम्।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्यत्वमिष्यते॥"

प्रत्यक्षादि गोचर स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध ही शब्दप्रवृत्ति के निमित्त होते हैं। ब्रह्म के एक निर्गुण, निष्क्रिय एवं असङ्ग होने से उसमें शब्द की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। गुण, योग और सम्बन्ध से ही लक्षणा और गौणी वृत्ति होती है।

मन, बुद्धि आदि कारण स्वयं दृश्य हैं। वे ज्ञान स्वरूप आत्मज्योति से दीपित होकर ही स्वविषयों को प्रकाशित करते हैं। अपने द्रष्टा प्रकाशक का प्रकाशन उनके द्वारा वैसे ही असंभव है जैसे रूप के द्वारा चक्षु का प्रकाशन। इसी युक्ति, श्रुति एवं अनुभवसिद्ध बात का वर्णन भगवतादि ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से किया गया है—

"नैतन्मनो विशति वागुत चक्षुरात्मा,
प्राणेन्द्रियाणि च यथा नलमर्चिषः स्वाः।
शब्दोऽपि बोधक निषेधतयात्ममूल
मर्थोक्तमाह यदृते न निषेध सिद्धिः॥"

अर्थात् इस आत्मतत्त्व में मन, वाक् एवं चक्षु प्रकाशन के लिये नहीं प्रवृत्त होते, प्राण एवं इन्द्रियों का भी यही हाल है। जैसे अग्नि की ज्वालाएँ अग्नि को जला नहीं सकतीं वैसे ही प्राण, इन्द्रिय, मन आदि उससे प्रकाशित हैं, उसे प्रकाशित नहीं कर सकते। 'यन्मनसा न मनुते', 'येनाहुर्मनोमतम्', यद्वाचा न भ्युदितम् येन वागभ्युपद्यते।' शब्द भी निषेधरूप से अतद्व्यावर्तन के द्वारा ही निषेध की अवधि या अधिष्ठान अथवा साक्षी के रूप से तात्पर्य वृत्ति से ही उसका बोधक होता है। जो सर्वनिषेध का अधिष्ठान या साक्षी है वह अर्थात् सिद्ध होता है।

ब्रह्म असङ्ग है। अतः वास्तविक सम्बन्ध न होने पर भी ब्रह्म आदि शब्दों का वाच्य सविशेष ब्रह्म मान्य है। सविशेष का आध्यात्मिक सम्बन्ध शुद्ध ब्रह्म से भी है। इस तरह शक्यार्थ सम्बन्ध सम्पन्न हो जाने से शुद्ध ब्रह्म लक्ष्य होता है। लक्ष्यतावच्छेदक धर्म स्वरूप से अनतिरिक्त ही है। इसी लिये—

"ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात् सदसतः परे।"

भागवत के वेदस्तुति के प्रसङ्ग में यह प्रश्न है कि स्वरूप जात्यादि गुणों से ही प्रवृत्त होनेवाली श्रुतियाँ अनिर्देश्य कार्यकारणातीत निर्गुण ब्रह्म में कैसे बोधकरूप से प्रवृत्त हो सकती हैं? वेदस्तुति में इसका उत्तर यही दिया है कि माया के योग से ही श्रुतियाँ ब्रह्म में प्रवृत्त होती हैं। शुद्ध ब्रह्म में तो अतन्निरसन या लक्षणा आदि द्वारा ही पर्यवसित होती हैं—

क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।
त्वयि फलन्त्य तन्निरसनेन भवन्निधना... ॥

इसी तरह यह भी कहना निरर्थक है। अन्तःकरण प्राकृत है, जड है, वृत्ति भी जड़ है, यह सब मान्य ही है। परन्तु वह चिदाभास युक्त होने से विषय के विशेष प्रकाश का हेतु होता है। वृत्ति जड़ होने से ब्रह्म का प्रकाशक नहीं हो सकती यह भी इष्ट है। परन्तु उसके द्वारा आवरण भङ्ग होता है। ब्रह्म तो स्वयंप्रकाश होने से ही प्रकाशता है। अन्तःकरण वृत्ति निर्विषय पदार्थ है यह कहना निराधार है। क्योंकि योग, साङ्ख्य, वेदान्त सभी दार्शनिक वृत्ति को सविषय मानते हैं। शब्दाकार वृत्ति स्पर्शाकार वृत्ति आदि प्रसिद्ध ही है। जब चक्षु आदि सविषय हैं तो तज्जन्य वृत्तियों के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है? इच्छा भी अन्तःकरण वृत्ति ही है तो भी सविषय होती ही है। अतएव सविषयत्व प्रकाशत्व प्रयुक्त नहीं होता। प्रकाश ब्रह्म भी है पर वह निर्विषय ही है। इच्छा में प्रकाशत्व नहीं है तो भी सविषयत्व है। जैसे दीप के प्रकाशार्थ दीप की आवश्यकता नहीं होती वैसे ही स्वप्रकाशबोध ज्ञान् या ब्रह्म के प्रकाशार्थ भी बोधान्तर, ज्ञानान्तर या ब्रह्मान्तर नहीं अपेक्षित होता। ज्ञान को कभी स्वप्रकाश कभी परप्रकाश्य मानना अर्धजरतीय ही है। फिर जो प्रतिवादी ज्ञान को आत्मा का धर्म मानता है उसके यहाँ ज्ञान नित्य ही होगा। उसका नाश न होने से संस्कार और स्मरणादि न हो सकेंगे। चक्षु श्रोत्रादि वाह्यकरण, मन बुद्धि आदि अन्तःकरण व्यर्थ ही होंगे। अतः अन्तःकरण परिणामभूत वृत्ति ही साभास होकर विषयों को प्रकाशती है। चक्षुरादि का वृत्तिजनन में उपयोग होता है। अतएव बौद्ध बोध या बौद्ध प्रमा से भिन्न पौरुषेय बोध या पौरुषेय प्रमा सांख्य योग में मान्य होती है। पौरुषेय बोध के प्रति बौद्ध बोध प्रमाण होता है। बौद्ध के प्रति चक्षुरादि प्रमाण होते हैं।

ज्ञान-निर्विशेषत्ववाद

यदि स्वप्रकाश ज्ञान में जड़रूप धर्म कहा जाय तो वह जड़ मिथ्या ही है। फिर मिथ्याभूत धर्म से स्वप्रकाश ज्ञान की सविशेषता कैसे कही जा सकती है ? स्वप्रकाश बोध में जड़धर्म दोष से ही भासित होता है। यदि अजड़ धर्मों के साथ ज्ञान भासता है ऐसा कहा जाय, तो वे दोनों ही प्रकाशात्मक होने से अभिन्न ही हैं फिर उनमें धर्म धर्मिभाव कैसे सिद्ध होगा। ज्ञान के द्वारा ज्ञान के कोई धर्म नहीं प्रकाशते फिर उन धर्मों का सद्भाव कैसे माना जाय।

कहा जाता है मैं इस पदार्थ को जानता हूँ इस प्रकार अहमर्थाश्रित विषय-प्रकाशक रूप से ही ज्ञान प्रकाशित होता है। इस तरह ज्ञान द्वारा ही अहमर्थ धर्मत्व और सविषयकत्व धर्म ज्ञान में भासित होते हैं। ज्ञान का अहमर्थानाश्रितत्व निर्विषयत्व विदित नहीं होता अतः ज्ञान सधर्मक ही है। जागर स्वप्न में सभी ज्ञान सकर्तृक एवं सकर्मकरूप से ही भासित होते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वृत्तिरूप ज्ञान की ही उक्त सकर्तृकता एवं सकर्मकता भासित होती है। जो कहा जाता है कि निर्विषय ज्ञान कहीं भासता नहीं वह ठीक नहीं, समाधि आदि में निर्विषय ही ज्ञान भासता है। सुप्ति में भी अज्ञान एवं सुख के साक्षिरूप में भासमान ज्ञान सकर्तृक नहीं है।

कहा जाता है यदि सुप्ति में ज्ञान विषयाश्रयशून्य होकर भासता है ऐसा ज्ञान होगा तो सुप्ति ही नहीं होगी। क्योंकि उक्त विशिष्ट ज्ञान उस समय है ही। यदि सुषुप्ति दशा में निर्विशेष ज्ञान का अनुभव हुआ होता तो जागर में स्मरण अवश्य होता। भले किसी विशेष कारण से अनुभूत वस्तु का भी स्मरण न हो परन्तु यदि सदा ही सुप्ति में निर्विशेष ज्ञान अनुभूत होता है तो उसका कभी स्मरण न हो यह नहीं हो सकता। सुप्ति में ज्ञान का अभाव और आत्मा का सद्भाव ही सिद्ध होता है, किसी निर्विशेष ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। परन्तु यह सब कहना निराधार है। 'यद्वै तन्न पश्यति पश्यन्वै तन्न पश्यति', 'नतु तद्द्वितीयमस्ति' यह श्रुति द्रष्टा आत्मा को ही विषयाभावात् निर्विषय ज्ञानरूप बतलाती है। ज्ञा धातु से निष्पन्न होने पर भी ज्ञान शब्द लक्षणा से वृत्तिभासक नित्य चैतन्य का ही बोधक है। वृत्तिरूप ज्ञान ही क्रिया है, नित्य ज्ञान

क्रिया नहीं। 'जैसे घट चेष्टायां' धातु से निष्पन्न होने पर भी चेष्टामात्र घट नहीं है वैसे ही ज्ञा धातु से निष्पन्न होने पर भी ज्ञान शब्द क्रियाबोधक न होकर नित्य ज्ञान का ही बोधक है।

कहा जाता है यदि निर्विशेष स्वप्रकाश ज्ञान स्वयं अपने को बतलाता है, तब तो अपने स्वरूप को बतलाना आदि विशेषण उसके सिद्ध ही हो गए। यदि दूसरा कोई निर्विशेष ज्ञान को जानकर उपदेश करता है तब तो यह भी प्रश्न होगा कि वह दूसरे ज्ञान से जानकर उपदेश करता है अथवा निर्विशेष ज्ञान से ही उसको जानकर बतलाता है। पहला पक्ष इसलिये ठीक नहीं क्योंकि अद्वैती ज्ञान को ज्ञानान्तर का विषय नहीं मानते। द्वितीय पक्ष में प्रश्न होगा कि लोकप्रसिद्ध ज्ञान को ही निर्विशेष जानना है या लोकोत्तीर्ण ज्ञान को? प्रथम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि लोकप्रसिद्ध ज्ञान आश्रय विषयमुक्त होकर कभी नहीं भासता है और वह प्रत्यक्षत्व परोक्षत्वादि अनेक विशेषों से युक्त ही रहता है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि लोकप्रसिद्ध ज्ञान से भिन्न दूसरे ही ज्ञान को निर्विशेष मानकर दूसरों को बतलाता है। यहाँ प्रश्न होगा कि यदि लोकप्रसिद्ध ज्ञान किसी दूसरे के समक्ष निर्विशेष बतलाता है, उसे जैसे उसी का सुख उसे ही अनुभव में आता है, वैसे उसे ही निर्विशेष ज्ञान प्रतीत होता है या अन्य को भी। यदि उसे ही हो तो उसके कथन पर कौन विश्वास करेगा। दूसरों के सुख दुःख दूसरों को अनुमान से विदित होते हैं। परन्तु दूसरे निर्विशेषानुभव को सिद्ध करनेवाला कोई हेतु नहीं। ऐसी स्थिति में वह निर्विशेषानुभव जो अनुमान द्वारा भी नहीं समझा जा सकता, कैसे स्वीकृत हो सकता है? अतः जो कहता है हमें निर्विशेषानुभव हो रहा है वह झूठ ही बोलता है, यही क्यों न समझा जाय? यदि निर्विशेषानुभव दूसरों के भी जानने योग्य पदार्थ है तो दूसरों को भी अनुभव में आना चाहिये परन्तु किसी को भी निर्विशेष ज्ञान का अनुभव होता नहीं। क्या वह निर्विशेष ज्ञान ऐसा पदार्थ है जो किसी अनुभव में नहीं आता केवल अपने ही लिए प्रकाशता है। परन्तु इससे यही क्यों न समझा जाय कि निर्विशेष हम सभी अहमर्थ हैं, उससे हम सभी भिन्न हैं, हम सभी के समक्ष वह नहीं प्रकाशता है तो प्रमाण बिना वह हमें कैसे मान्य हो सकता है?

अनुभूति निर्विशेष है। अनुभूति होने से जो अनुभूति नहीं वह निर्विशेष भी नहीं यथा घटादि। यह अनुमान भी अनुभूति की निर्विशेषता नहीं सिद्ध कर सकता। क्योंकि पक्षता, साध्यता, हेतुता आदि विशेषों के बिना कोई अनुमान नहीं होता, यदि अनुभूति में पक्षता आदि है तब तो वह सधर्मक ही हुई।

यदि पक्षता आदि नहीं है तो अनुभूति की निर्विशेषता भी कैसे सिद्ध होगी। अनुमान के आधार पर धर्मों को पक्ष मानकर उनके अनुभूतिधर्मत्व का निषेध करने पर भी अनुभूति की निर्विशेषता नहीं सिद्ध होती। भेद आदि धर्म अनुभूति के नहीं हैं क्योंकि धर्म दृश्य है। जो जो धर्म है, ज्ञान का विषय है वह अनुभूति का धर्म नहीं है जैसे रूपादि। इस तरह कोई दृश्य धर्म अनुभूति के धर्म न होंगे तो अनुभूति की निर्धर्मकता अपने आप सिद्ध हो जाती है। फिर भी अनुभूति में एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म अद्वैती को भी मानना ही पड़ेगा। यदि उपर्युक्त अनुमान से अनुभूति के एकत्व, नित्यत्व आदि धर्म का भी निषेध अभीष्ट है तो निर्विशेषत्व अपसिद्धान्त होगा, क्योंकि अनुभूति नित्यत्व आदि मान्य है।

यदि एकत्व आदि धर्म मिथ्या है तो यह भी मानना होगा कि अनुभूति वस्तुतः एक एवं नित्य नहीं है; फिर अनुभूति का अनित्यत्व एवं नानात्व माननेवालों से अद्वैती का विवाद भी क्यों होना चाहिये। अद्वैती नित्यत्व, एकत्व को अनुभूति का स्वरूप ही मानते हैं, तो बौद्ध भी अनित्यत्व, अनेकत्व को अनुभूति का स्वरूप ही मानते हैं, क्योंकि दोनों ही के मत में अनुभूति के निर्धर्मक हैं। स्वीकृत एवं विवादास्पद अर्थ भिन्न ही होते हैं। अनुभूति दोनों की मान्य वस्तु है। एकत्व, अनेकत्व; नित्यत्व, अनित्यत्व विवादास्पद हैं, अतः वे दोनों एक नहीं हो सकते। अतः नित्यत्व आदि अनुभूति के धर्म ही होने चाहिये स्वरूप नहीं। स्वरूप मानने पर उन धर्मों को लेकर विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। नित्यत्वादि धर्म अनुभूति में स्वीकार करने पर उपर्युक्त अनुमान में अनैकान्तिकता व्यभिचार दोष होगा। नित्यत्वादि न स्वीकार करने से अपसिद्धान्त होगा। यदि पक्षभूत अनुभूति लोकप्रसिद्ध ही ग्राह्य है तब उसमें सकर्तृकत्वादि विशेष प्रसिद्ध है अतः बाध दोष होगा। यदि अनुभूति शब्द से श्रुतिसिद्ध ब्रह्म ग्राह्य है तो वह भी श्रुतिसिद्ध अनन्त विशेषों से युक्त ही है। इस तरह किसी प्रकार की अनुभूति में निर्विशेषता नहीं सिद्ध हो सकती। इसी तरह अनुभूति सधर्मक है प्रकाशमान होने से घटादि के समान। एकत्व नित्यत्व आदि अनुभूति के धर्म हैं प्रमाणसिद्ध होने से, जैसे नीलत्वादि घट के धर्म हैं।

शब्द भी निर्विशेष का बोधक नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ प्रश्न होगा पद रूप में शब्द निर्विशेष अनुभूति का बोधक होगा या वाक्यरूप में? अन्विताभिधान केवल पदबोधक होता ही नहीं। अतः उस पक्ष में पर से निर्विशेष पदार्थ का

बोध हो ही नहीं सकता। अभिहितान्वयवाद में प्रत्येक पद अर्थ का स्मारक ही होता है। इस दृष्टि से पद प्रमाण नहीं हो सकते अतः पदात्मक शब्द निर्विशेष पदार्थ में प्रमाण नहीं हो सकते। प्रत्येक पद प्रकृति प्रत्यय के योग से ही बनता है। अतः प्रकृत्यर्थ विशिष्ट प्रत्ययार्थ ही प्रत्येक शब्द का अर्थ है। ऐसे पदों से निर्विशेष पदार्थ की प्रतीति नहीं संभव होती। इस तरह जैसे वाक्यजन्य बोध में वैशिष्ट्य अवर्जनीय है वैसे पदजन्य बोध में भी वैशिष्ट्यभान होगा ही। वस्तु-तस्तु पद रूप से निर्विशेष शब्द किसी अर्थ का बोधक नहीं होता। हाँ वाक्यस्थ होकर अन्यान्य पदों से उपस्थापित विशेषों का निराकरण न करके विवक्षित विशेष रहित वस्तु का बोध करा सकता है, जैसे राजा अद्वितीय है, नगरी विशेष रहित है। इन वाक्यों का यही अर्थ है कि राजा के समान दूसरा व्यक्ति नहीं है। यहाँ राजत्वादि धर्मों का निषेध नहीं है, नगरी निर्विशेष है इसका भी अर्थ विशेष वृत्तान्त का राहित्य ही है; यह नहीं कि उसमें गृह, प्रासाद, मार्ग आदि हैं ही नहीं। वाक्यों का संसर्ग ही अर्थ होता है अतः वाक्यरूपी शब्द से निर्विशेष वस्तु सिद्ध नहीं होती। पदार्थविशिष्ट संसर्ग या संसर्गविशिष्ट पदार्थ यही वाक्यार्थ होता है।

वस्तुतः नित्य ज्ञान ब्रह्मस्वरूप है, सर्वकारण है एवं सर्वाधिष्ठान है। कार्यों में विशेषता, कारण में अपेक्षाकृत निर्विशेषता प्रसिद्ध है। घट में कंबुग्रीवादि विशेष होता है परन्तु मृत्तिका में नहीं। मृत्तिका में गन्धरूप विशेष होता है परन्तु तत्कारण जल में वह नहीं होता। पृथिवी में शब्द, स्पर्श, आदि पाँच विशेष होते हैं। जल में गन्ध को छोड़कर चार, तेज में तीन, वायु में दो, आकाश में केवल शब्द विशेष रहता है। अहं में वह भी नहीं रहता। इस तरह अवान्तर कारणों में आपेक्षिक निर्विशेषता प्रसिद्ध है। सर्वकारण में पूर्ण निर्विशेषता न्यायप्राप्त होती है। वह अन्तिम कारण ही निर्विशेष ज्ञान है। वह अवेद्य होकर अपरोक्ष है इसी लिये स्वप्रकाश है। प्रत्यक्षानुमानादि द्वारा तत्तदाकार वृत्ति होती है एतावता वह प्रामाणिक भी होता है, अतएव उसमें अस्तित्व का अपलाप भी नहीं किया जा सकता। सकर्मकत्व, सकर्तृकत्व वृत्ति-रूप ज्ञान में ही होता है ब्रह्मरूप ज्ञान में नहीं, यह प्रतिवादी को भी मानना ही पड़ता है। सुषुप्ति में, समाधि में, कर्तृत्व, भोक्तृत्वादि विशेषों से रहित बोधरूप साक्षी स्मरणादि से भी विशेष होता ही है। वृत्तिव्याप्तिरूप ज्ञेयता उसमें मान्य होने पर फलव्याप्तिशून्यता मात्र से उसे अज्ञेय कहा जाता है।

सुषुप्ति एवं आत्मा

सुप्ति दशा में भी यद्यपि अहमर्थ नहीं होता तथापि अज्ञान सुखादि का प्रकाशरूप ज्ञान होता है। साक्षिरूप ज्ञान में सकर्तृकत्वादि नहीं होता। "ज्ञा धातु प्रतिपाद्य ज्ञान विषयाश्रयसापेक्ष ही होता है" यह कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि 'ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम्' इस करण व्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान का उक्त स्वभाव होने पर भी 'ज्ञप्तिर्ज्ञानम्' इस भाव व्युत्पत्ति से निष्पन्न ज्ञान सर्व-निरपेक्ष नित्य ब्रह्म ही है। वही ज्ञान 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि श्रुति से कहा गया है। यहाँ ज्ञान छेदनादि क्रिया के तुल्य नहीं है कि जिससे उसे आश्रय एवं विषय की अपेक्षा अनिवार्य हो, किन्तु सूर्य के स्वरूपभूत प्रकाश के तुल्य स्वतः सिद्ध है। सूर्य का स्वरूपभूत प्रकाश कर्तृव्यापार निरपेक्ष ही है। उसके सन्निधान मात्र से प्रकाश्य वस्तुओं का प्रकाश होता है परन्तु वह प्रकाश्यसापेक्ष नहीं होता है। वैसे ही आत्मस्वरूप ज्ञान भी निरपेक्ष ही है। सुप्ति में आत्मा का धर्मभूत ज्ञान निर्विषय रहता है इतना तो प्रतिवादी को भी मान्य है। धर्मभूत ज्ञान यद्यपि साश्रय है तथापि सुप्ति में धर्मिभूत ज्ञानरूप आत्मा तो निराश्रय भी है ही। निर्विशेष ज्ञान प्रकाशता है। इस प्रकार सुषुप्ति दशा में उल्लेख न होने पर भी सुप्ति में अहमर्थ नहीं रहता और शब्दादि विषय नहीं रहता। फिर भी सुप्तिसाक्षिस्वरूप बोध रहता है। एतावता उसकी निराश्रयता निर्विषयता सिद्ध हो जाती है। सुप्ति समय में सविषय ज्ञान का अभाव होने पर भी सब प्रकार के ज्ञान का अभाव नहीं कहा जा सकता क्योंकि श्रुति स्वयं कहती है कि द्रष्टा की स्वरूपभूत दृष्टि नित्य है उसका विपरिलोप नहीं होता—'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते'।

शास्त्रों एवं आचार्यों के उपदेश से साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति निर्विशेष ब्रह्मरूप बोध को जानता है। जानने का भी अर्थ है वृत्तिज्ञान। वृत्तिव्याप्यता में कोई बाधा नहीं है यह कहा जा चुका है। लौकिक ज्ञान एवं लोकोत्तीर्ण ज्ञान दो नहीं हैं। वस्तुतः लोकोत्तीर्ण ज्ञान ही माया से लौकिक ज्ञान एवं ज्ञेय प्रपञ्च के रूप में व्यक्त होता है, परमार्थतः वह सदा लोकोत्तीर्ण ही रहता है।

कहा जाता है 'सभी वस्तु सविशेष ही होती है, ब्रह्म में भी नित्यत्वादि विशेष तो रहते ही हैं' परन्तु उक्त कथन ठीक नहीं है क्योंकि यहाँ विचार

होगा कि क्या निर्विशेष वस्तुसत्ता मानकर उसका निषेध किया जाता है या उसका असत्त्व मानकर निषेध है? यदि निर्विशेष वस्तु की सत्ता मान्य ही है तब उसका निषेध कैसे होगा? यदि नहीं तो भी निषेध कैसे बनेगा? क्योंकि अत्यन्तासत् शशशृङ्गादि का निषेध नहीं होता। यदि कहा जाय कि ब्रह्म की ही निर्विशेषता का निषेध अभीष्ट है तो वहाँ भी वही प्रश्न होगा कि निर्विशेष्यता का सत्त्व मानकर निषेध किया जा रहा है या असत्व मानकर? दोनों ही पक्ष में पूर्वोक्त युक्ति से निषेध नहीं हो सकता।

कहा जा सकता है कि ब्रह्म की निर्विशेषता भ्रान्तिसिद्ध है, उसी का निषेध किया जाता है। अद्वैती भी तो भ्रान्तिसिद्ध द्वैत का निषेध करता है परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि द्वैत का सत्व भ्रान्तिसिद्ध है यह तो वेदान्तों से विदित होता है। परन्तु ब्रह्म का निर्विशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है—यह तुमने कैसे जाना?

कहा जा सकता है कि सविशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व की स्थिति का व्याघात होने से ही निर्विशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है परन्तु यह भी ठीक नहीं। यद्यपि सविशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व व्याहत है तथापि निर्विशेष ब्रह्म में निर्विशेषत्व की स्थिति में कोई बाधा नहीं है। फिर उसे भ्रान्ति कैसे कहा जा सकता है? प्रत्युत सविशेषत्व ही भ्रान्तिसिद्ध है।कहा जाता है 'सत्यत्व, ज्ञानत्व, अनन्तत्व आदि विशेष ब्रह्म में रहते ही हैं,' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि विशेष सविशेष में होते हैं या निर्विशेष में; द्वितीय पक्ष तो व्याहत ही है। सविशेष में विशेष रहता है यह मानने पर भी प्रश्न यह होगा कि 'विशेषेण सह वर्तते सविशेषः सविशेषस्य विशेषः',यहाँ प्रथमान्त विशेष वस्तु के विशेषणीभूत तृतीयांत विशेषसे भिन्न है या अभिन्न? अन्तिम पक्ष मानने में आत्माश्रय दोष होगा क्योंकि वही तृतीयान्त होकर आश्रय होगा और वही प्रथमान्त होकर आश्रित होगा। प्रथम पक्ष अर्थात् भिन्न मानने पर प्रश्न होगा कि उस भिन्न विशेष को भी किसी सविशेष के ही आश्रित मानना पड़ेगा; तथा च उस विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता जिस विशेष से हुई, वह प्रथमान्त विशेष से भिन्न है या अभिन्न? अभिन्न मानने में चक्रक दोष होगा क्योंकि प्रथमान्त विशेष को लेकर तृतीयान्त विशेष के आश्रय-भूत वस्तु की सविशेषता होगी और तभी तृतीयान्त विशेष की स्थिति होगी। तृतीयान्त विशेष की स्थिति होनेपर ही प्रथमान्त विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता होगी और तभी प्रथमान्त विशेष की स्थिति होगी। प्रथमान्त विशेष सिद्ध हो तभी उसको लेकर तृतीयान्त विशेष के आश्रयभूत वस्तु की सविशेषता होगी। यदि प्रथमान्त विशेष से भिन्न विशेष द्वारा ही तृतीयान्त विशेष के आश्रय

की सविशेषता हो तब तो उस विशेष का भी कोई सविशेष आश्रय होगा और उस सविशेष के लिये किसी अन्य विशेष की आवश्यकता होगी तथा च अनवस्था दोष होगा। इसलिये नित्यत्वादि विशेषवान् ब्रह्म में नित्यत्वादि विशेष रहते हैं या नित्यत्वादि विशेषरहित ब्रह्म में? इसका उत्तर देना कठिन है अतः सविशेषत्व भ्रान्तिसिद्ध है, स्वतः ब्रह्म निर्विशेष ही है। किञ्च जो कहते हैं निर्विशेष कोई वस्तु होती ही नहीं उन्हें यह भी सोचना होगा कि नित्यत्वादि विशेष क्या निर्विशेष है या सविशेष? यदि प्रथम पक्ष मान्य है तब तो निर्विशेष वस्तु सिद्ध ही हो गयी; यदि सविशेष है तो भी नित्यत्वादि विशेष में होनेवाले विशेष भी निर्विशेष हैं या सविशेष। प्रथम पक्ष में निर्विशेष वस्तु सिद्ध होती है। सविशेष मानने पर अनवस्था प्रसङ्ग होगा। कुछ लोग कहते हैं कि 'धर्म को लेकर धर्मी सविशेष है और धर्मी को लेकर धर्म सविशेष है। जो किसी का धर्म न हो या किसी का धर्मी न हो ऐसी कोई भी वस्तु प्रमाणसिद्ध नहीं है' परन्तु यह भी ठीक नहीं। क्योंकि क्या धर्म धर्मी में वर्तमान होकर धर्मी के सविशेषत्व का संपादक होता है अथवा अधर्मी में भी सविशेषत्व सम्पादक होता है? अन्तिम पक्ष तो व्याहत है। प्रथम पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि धर्मी में धर्म रहता है। यहाँ भी धर्मि शब्दगत तृतीयान्त धर्म प्रथमान्त से भिन्न है या अभिन्न। अन्त्य में आत्माश्रय, आद्य में अन्योऽन्याश्रय आदि दोष होंगे। इसी तरह धर्मि का धर्म है यह कथन भी सदोष ही है। धर्म का धर्मी यह भी सदोष ही है। पूर्वोक्त विकल्प सर्वत्र प्रसृत होते हैं। अपि च जिसका जो धर्म है उससे उसका विवेचन करने पर वस्तु निर्धर्मक ही अवशिष्ट रहती है। जैसे शुक्ल घट से बुद्धि से शुक्ल गुण के पृथक् करने पर घट निर्गुण ही ठहरता है। उस घट से कम्बुग्रीवादि आकार के पृथक्करण करने पर निराकार घट मृत्तिकारूप ही ठहरता है। मृत्तिकारूप घट से मृत्तिका को पृथक् करने पर निर्विशेष सन्मात्र ही वस्तु अवशिष्ट रहती है। तथा घटोऽयम् यह अनुभव भी निर्विशेष सन्मात्र वस्तु के सद्भाव में प्रमाण है। किञ्च धर्म का ज्ञान होने पर ही धर्मविशिष्ट धर्मी का ज्ञान होता है। इसी तरह धर्मी का ज्ञान होने पर ही अमुक धर्मी का यह धर्म है ऐसा बोध होता है। इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष होता है अतः निर्धर्मक ही वस्तु ठहरती है। धर्मत्व-धर्मित्व यह दोनों भाव में रहते हैं या अभाव में? यदि भाव में तो वही भाव जो न किसी का धर्म है, न धर्मी है, वही निर्विशेष सत् है। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, क्योंकि फिर तो शशशृङ्ग में भी धर्मित्व धर्मत्व व्यवहार होना चाहिये।

कहा जाता है ऐसी कोई भावभूत वस्तु नहीं है जो किसी का धर्म या धर्मी न हो परन्तु यहाँ भी प्रश्न होगा—तुम ऐसी वस्तु को जानकर उसका निषेध करते हो या बिना जाने ? यदि पहला पक्ष है तब तो तुम्हारा ज्ञान ही निर्विशेष वस्तु सत्ता में प्रमाण है। अन्तिम पक्ष ठीक नहीं क्योंकि अज्ञ का वचन कैसे ग्राह्य होगा ? यदि कहा जाय कि निर्विशेष वस्तु का अभाव जानकर ही मैं कहता हूँ तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि तादृश वस्तु के सत्त्व होने पर उसका अभाव जाना या असत्त्व से अभाव जाना। यदि सत्त्व है तो उसका अभाव कैसे ? असत्त्व होने पर भी अभावज्ञान नहीं हो सकता क्योंकि अभावज्ञान में प्रतियोगी ज्ञान की अपेक्षा होती है, अतएव तादृश वस्तुज्ञान बिना अभावज्ञान हो ही नहीं सकता। 'ऐसी कोई वस्तु नहीं जो किसी का धर्म या धर्मी न हो' यह कथन स्वतन्त्र रूप से है या किसी प्रमाण के बल पर। प्रथम पक्ष इसलिये ठीक नहीं कि भ्रम प्रमादादि दोषों से दूषित पुरुषों का वचन ग्राह्य नहीं होता। यदि वेदान्त प्रमाण कहें तो कोई भी ऐसा वचन वेदान्त वाक्य नहीं है जो कहता हो कि ब्रह्म निर्विशेष नहीं है। अनुमान भी प्रमाण नहीं। क्योंकि वह पुरुषबुद्धि पर निर्भर होने से वेदान्तविरुद्ध प्रमाण नहीं; निर्विशेष ब्रह्म तत्व का अविद्वत्प्रत्यक्षगम्य न होने पर भी अपलाप नहीं किया जा सकता। विद्वत्प्रत्यक्षगम्यता तो उसमें मान्य है ही। निर्विशेष चिन्मात्र वस्तु धर्म धर्मित्व विनिर्मुक्त सिद्ध ही है। 'स वै ममाशेष विशेषमाया निषेध-निर्वाण सुखानुभूति', 'सत्तामात्रं निर्विशेषं' इत्यादि श्रीमद्भागवतादि ग्रंथों में भगवान् व्यास के वाक्य निर्विशेषत्व के सद्भाव में प्रमाण हैं ही। नेति नेति अस्थूल अनणु आदि निषेधबोधक वाक्य भी निर्विशेष वस्तु की सत्ता में प्रमाण हैं।

कहा जाता है कि उक्त वाक्यों से मायामय विशेषों का ही निषेध किया गया है। एतावता दिव्य गुणादि विशेषों का निषेध नहीं अभीष्ट है। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि उक्त निषेधों से सर्व निषेधावधि निर्विशेष्य ब्रह्म ही विवक्षित है। जो भी निषेध के योग्य है उस सब का निषेध करने पर निर्विशेष ब्रह्म ही अवशिष्ट रहता है।

कहा जाता है "ब्रह्म को निषेधावधि कहीं नहीं कहा गया है" परन्तु यह भी ठीक नहीं। 'निषेधशेषोजयतादशेषः' इत्यादि भागवत के पद्य से ब्रह्म को निषेधशेष स्पष्ट रूप से कहा गया है। यदि ब्रह्म किसी का धर्म या धर्मी होता तो तब तो उसका भी निषेध ही होता, फिर वह निषेधशेष नहीं हो सकता है। अतएव

भगवान् व्यास ने ब्रह्म के सम्बन्ध में कहा है कि वह न गुण है, न कर्म है, न सत् (कार्य) है, न असत् (कारण) है—'नायं गुणः कर्म सन्नचासत्' ।

यदि ब्रह्म सविशेष होता तो उसी विशेष के द्वारा उसका निरूपण उचित था फिर नेति नेति वाक्यों से निषेधमुख से प्रतिपादन व्यर्थ ही था । इसलिये 'यतो वाचो निर्वतन्ते अप्राप्य मनसा सह' यह श्रुति ब्रह्म को मनोवचनागम्य बतलाती है । जो वस्तु सविशेष है वह तो 'इदमित्थं' यह ऐसी वस्तु है इस रूप से मन द्वारा जानी जा सकती है । वाणी द्वारा उसका निर्वचन भी हो ही सकता है । निर्विशेष वस्तु के सम्बन्ध में ही यह सब अशक्य होता है । इसी लिये 'अवचनेनैव प्रोवाच' इस वाक्य के द्वारा तूष्णीं भाव से ही ब्रह्म का निरूपण कहा गया है । जैसे नवोढ़ा कुलवधू सखियों द्वारा पति सम्बन्धी प्रश्न होने पर, वह सखियों के अंगुली निर्दिष्ट तत्तत् व्यक्तियों का निषेध करती हुई, ठीक पति के अंगुल्या निर्देश पर तूष्णीं रहकर ही उसे स्वपति बतलाती है, इसी तरह श्रुति भी अतत् का व्यावर्तन करती हुई सर्वनिषेधावधि भूत ब्रह्म को अवचन से ही बोधित करती है ।

जो कहा जाता है कि मायामय सर्वविशेषों के निषेध के बाद भी स्वाभाविक विशेष ब्रह्म में होते ही हैं; यह ठीक नहीं । स्वतः निर्विशेष में माया से ही सविशेषत्व होता है ।

कहा जाता है कि सत्य, नित्य, ज्ञान, अनन्त, आनन्दरूप ब्रह्म में सत्यत्व आदि विशेष तो रहते ही हैं, सत्यत्व आदि मायामय नहीं कहे जा सकते । परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण क्या ? यहाँ सत्यत्वादि व्यावर्तक विशेष हैं अथवा धर्म हैं ? प्रथम पक्ष में भी क्या वे पारमार्थिक हैं अथवा व्यावहारिक । पहला पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि परमार्थ दशा में व्यावर्त्य ही नहीं फिर व्यावर्तक ही कैसे होगा ? उस समय भी व्यावर्त्य रहता है यह नहीं कहा जा सकता है । 'नेह नानास्ति किञ्चन' इस श्रुति से सब प्रकार की वस्तु का निराकरण किया गया है । 'नात्र काचन भिदास्ति' इस श्रुति से ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है यह कहा गया है । किसी प्रकार की भी वस्तु या भेद रहने पर काचन किञ्चन इन दोनों शब्दों का स्वारस्य भङ्ग होता है । 'यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' यह श्रुति सर्वप्रपञ्च को आत्मा ही कहती है । द्वितीय पक्ष के अनुसार व्यवहार दशा में व्यावहारिक मायामय विशेषों से ब्रह्म की सविशेषता तो मान्य है । ब्रह्मभिन्न सब कुछ मिथ्या है, द्वैत व्यावर्त्य है । उसी दशा में सत्यत्वादि में व्यावर्तक धर्म मान्य होते हैं ।

परमार्थ दशा में तो धर्म धर्मि भाव होता ही नहीं। सुषुप्ति, मृत्यु आदि में भी धर्मि धर्म भाव प्रतीत नहीं होता। सुषुप्ति में आत्मा का यह धर्म है, इस धर्मी का यह धर्म है इत्यादि प्रतीति नहीं होती।

कहा जाता है कि सुप्त पुरुष को ज्ञान न होने पर भी द्वैत प्रपञ्च रहता है; पर यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि दृष्टिसृष्टि के अनुसार सम्पूर्ण द्वैत प्रातीतिक ही है। अतः प्रतीति न होने पर उसके होने में कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग कहते हैं रज्जु सर्प के तुल्य प्रपञ्च प्रातीतिक नहीं है किन्तु सर्प के तुल्य ही है। सर्प भी पक्ष ही है, सपक्ष कोई न होने से दृष्टान्त सिद्ध नहीं होता है। किन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि व्यवहार भी प्रतीतिरूप ही होता है अतः वह भी प्रातीतिक ही है। अतः व्यावहारिक मायामय सत्यत्वादि ही व्यवहार दशा में ब्रह्म में होते हैं, परमार्थतः सत्यत्वादि भी नहीं ही हैं। प्रश्न होता है है कि 'ब्रह्म परमार्थतः सत्य, ज्ञान एवं आनन्द है या नहीं? यदि प्रथम पक्ष मान्य है तो सत्यात्वादि का अभाव कैसे? यदि नहीं तो यह कहना पड़ेगा कि ब्रह्म परमार्थतः सत्य, ज्ञान एवं आनंद नहीं है। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि फिर तो ब्रह्म भी घटादि तुल्य ही ठहरेगा।' परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं, क्योंकि परमार्थतः ब्रह्म निर्धर्मक परमानन्द बोधरूप है। व्यवहारतः सत्यत्व अनन्तत्वादि धर्मवान् भी है। एतावतापि ब्रह्म में पारमार्थिक सत्यत्वादि नहीं है क्योंकि ब्रह्म परमार्थतः निर्धर्मक है यह कहा जा चुका है। फिर निर्धर्मक में सत्यत्वादि धर्म कैसे हो सकते हैं? फिर भी प्रश्न होता है कि निर्धमक ब्रह्म में निर्धर्मकत्व, परमानन्दत्व आदि धर्म होते हैं या नहीं, यदि हैं तो निर्धर्मक ब्रह्म कैसा? यदि नहीं तो निर्धर्मक परमानन्द ब्रह्म की सिद्धि कैसे होगी। परन्तु यह कथन भी व्यर्थ ही है। निर्धर्मक ब्रह्म में निर्धर्मकत्व धर्म नहीं होता क्योंकि ऐसा होने पर व्याघात दोष होगा। जैसे निर्गुण में गुणरूप धर्म नहीं है वैसे निर्धर्मक में कोई भी धर्म नहीं हो सकता। जैसे गुण में गुणान्तर स्वीकार करने से अनवस्था प्रसङ्ग होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। इसी तरह निर्धर्मक होने से ही ब्रह्म में बोधत्व आनन्दत्वादि धर्म मान्य नहीं होते। निर्धर्मक में धर्मस्थिति व्याहत ही है। सावयव वस्तु की विश्रान्ति किसी निरवयव वस्तु में मान्य होती है। अन्यथा अनवस्था दोष होता है। जैसे घट सावयव है क्योंकि वह कपालद्वय संयोग से निष्पन्न होता है। वह कपाल भी सावयव है क्योंकि मृत्पिंड से बनता है। मृत्पिण्ड भी सावयव है क्योंकि वह भी चूर्णपुञ्जमय ही है। चूर्ण भी सावयव है क्योंकि

वह भी त्रसरेणुमय है। त्रसरेणु भी सावयव है क्योंकि वह द्वयणुकों से आरब्ध होता है। द्वयणुक भी सावयव है क्योंकि दो परमाणुओं से वह भी बनता है। वह परमाणु निरवयव है यदि उसे भी सावयव मानेंगे तो अनवस्था प्रसङ्ग होगा। इसी तरह घटादि में भी समझना चाहिये। जैसे घटत्व होता है उसी तरह घटत्व में घटत्वत्व आदि मानने से भी अनवस्था होती है वैसे ही निर्धर्मकत्व की विश्रान्ति भी ब्रह्म में ही है। इस तरह निरवयव निधर्मक ब्रह्म की सिद्धि होती है। स्वमत से निरवयव परमाणु के स्थान में निरवयव ब्रह्म ही सिद्ध होता है। स्वमत में ब्रह्म से अण्वादिक्रमेण घटादि की उत्पत्ति होती है। सविशेष जगत् का पर्यवसान निर्विशेष ब्रह्म में ही होता है।

सांख्यमतानुसार भी जैसे जगत् का अन्तिम मूल अमूल होता है वैसे ही अन्तिम आधार निराधार, अन्तिम विशेष निर्विशेष, अन्तिम प्रकाशक अप्रकाश्य या स्वप्रकाश मान्य होता है। सविशेष पृथ्वी गन्धहीन आपेक्षिक निर्विशेष जल में विश्रान्त होती है, रसादि विशेषवान् जल रसहीन निर्विशेष तेज में पर्यवसित होता है। रूपादि विशेषवान् तेज रूपरहित निर्विशेष वायु में, वायु स्पर्शशून्य आकाश में; आकाश अहं में, अहं महान् में, महान् अव्यक्त में, अव्यक्त अत्यन्त निर्विशेष ब्रह्म में ही विश्रान्त होता है। वह ब्रह्म अपने में ही विश्रान्त है, यदि वह भी सविशेष होता तो पृथिव्यादि के तुल्य उसकी भी किसी अन्य में ही विश्रान्ति होती।

कहा जाता है कि प्रत्यक्षादि प्रमाण तो सविशेष वस्तु में ही प्रवृत्त होते हैं। साथ ही शब्द भी सविशेष वस्तु का ही बोधक होता है। शक्यता लक्ष्यता आदि के बिना शब्द की प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। युक्तियाँ भी सविशेष वस्तु में ही पर्यवसित होती हैं। परन्तु यह सब कथन निराधार ही है क्योंकि सविशेष वस्तु के तुल्य ही निर्विशेष वस्तु में भी प्रत्यक्षादि प्रमाण संगत होते हैं। सुषुप्ति काल में किसी विशेष का ग्रहण नहीं होता। सुषुप्ति काल का प्रत्यक्ष भी निर्विशेष तत्त्व का ही बोधक है। सुषुप्ति काल में 'नाहं किञ्चिदवेदिषम्' सुप्ति में मैं कुछ नहीं जानता था इत्याकारक सुप्तोत्थ स्मरण से सौषुप्त प्रत्यक्षानुभूति का परिज्ञान होता है क्योंकि अनुभव के बिना स्मरण सिद्ध नहीं होता। सुप्ति काल में तुमने किन किन विशेषों को जाना ऐसा पूछने पर मनुष्य ही कहता है कि सुप्ति में मैंने किन्हीं विशेषों को नहीं जाना। सुषुप्ति में विशेषों का अनुभव अनुभवविरुद्ध भी है; हाँ यह विचारणीय अवश्य है कि मैंने सुप्ति में किन्हीं विशेषों का अनुभव नहीं किया, यह वचन क्या अनुभवपूर्वक है या अननुभवपूर्वक ?

पहला पक्ष मान्य है तो किंविषयक अनुभव उक्त वाक्य का मूल है? यदि विशेषाभाव विषयक अनुभव कहा जाय तो भी विचारणीय है कि वह विशेषाभाव साधिकरण है या अनधिकरण? प्रथम पक्ष में भी विचारणीय है कि जहाँ विशेषाभाव अनुभूत हुआ है वह अधिकरण सविशेष है या निर्विशेष? प्रथम पक्ष व्याहत है क्योंकि जो सविशेष है वह विशेषाभाव का अधिकरण कैसे होगा। यदि द्वितीय पक्ष मान्य है तब तो निर्विशेष वस्तु सिद्ध ही है। यदि उक्त वचन अननुभव पूर्वक है तब तो उक्त वचन अप्रमाण ही है। इस तरह सुषुप्त्यादि प्रत्यक्ष से निर्विशेष वस्तु सिद्ध होती है। इसी तरह पूर्वोक्त अनुमान भी निर्विशेष में प्रमाण है।

कहा जाता है निर्विशेष में अनुमान प्रवृत्ति नहीं हो सकती परन्तु उक्त वचन निराधार है क्योंकि ब्रह्म निर्विशेष ही है। सुषुप्ति आदि में ब्रह्म में किसी विशेष का अनुभव नहीं होता। जो निर्विशेष नहीं है उसमें विशेषाभाव का दर्शन नहीं होता। जैसे घट इत्यादि दृष्टान्त से निर्विशेष कि सिद्धि होती ही है। इसी तरह शब्द भी निर्विशेष वस्तु बोधक होता ही है।

कहा जाता है प्रत्यक्ष विरुद्ध अर्थ अनुमान एवं शब्द से नहीं सिद्ध होता। ब्रह्म की सविशेषता प्रत्यक्ष सिद्ध है। जागर में प्रत्यक्ष से ही सविशेषता सिद्ध है। सुप्ति में भी सविशेष ही ब्रह्म रहता है। वहाँ मन आदि करण न होने से विशेषों का स्पष्ट उल्लेख नहीं होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि जिसका सद्भाव गृहीत नहीं उस विशेष के होने में कोई प्रमाण नहीं। यदि अगृहीत होने पर विशेष मान्य हो तब तो शशशृङ्ग का भी सद्भाव माना जाना चाहिये।

कहा जाता है कि शशशृङ्ग तो कभी नहीं गृहीत होता परन्तु ब्रह्म के विशेष तो जागर में गृहीत होते हैं, अतः सुप्ति में भी विशेषों का सद्भाव मानना चाहिये। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि फिर तो भ्रम काल में गृहीत रज्जु सर्प का भ्रम मिटने पर भी सद्भाव मानना चाहिये।

कहा जाता है कि जागर भ्रम काल नहीं है पर यह ठीक नहीं क्योंकि भ्रम हेतु अज्ञान होने से जागर को भ्रम ही मानना उचित है। कहा जाता है सुषुप्ति में भी अज्ञान तो रहता ही है, ठीक है, परन्तु सुषुप्ति में विक्षेपशक्तियुक्त अज्ञान नहीं रहता। अतएव अन्यथाग्रहणरूप भ्रम नहीं कहा जा सकता।

यदि ब्रह्म सविशेष है तब भी सभी विशेषों का सर्वथा सद्भाव होता नहीं। आगमापायी विशेषों से ब्रह्म भी विकारी होगा परन्तु कूटस्थ प्रतिपादक श्रुतियों

से यह विरुद्ध होगा। यदि सभी विशेष नित्य ही हों तब तो सदा स्रष्टृत्व, सदा संहर्तृत्वादि रहने से सब समय परस्पर विरुद्ध सृष्टि संहारादि कार्य होने चाहिये। इसके अतिरिक्त सविशेष होने से घटादि के तुल्य ब्रह्म में अनित्यता भी प्रसक्त हो सकती है।

कहा जाता है ब्रह्म निर्विशेष नहीं है, नित्यत्वादि विशेषवान् होने से घटादि के तुल्य है। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि दृष्टान्त में नित्यत्वादि विशेष का अभाव होने से ब्रह्मभिन्न किसी भी पदार्थ में नित्यत्वादि विशेष असिद्ध ही है। अतएव कालवत् दृष्टान्त भी असिद्ध है क्योंकि वेदान्त मत में काल भी अनित्य ही है। आत्मवत् दृष्टान्त भी असिद्ध है क्योंकि वह तो ब्रह्मरूप पक्ष से अभिन्न ही है। विशेषवत्वात् यह हेतु भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि ब्रह्म में विशेषवत्व असिद्ध ही है। नित्यत्वादि विशेष भी पक्ष में असिद्ध ही हैं क्योंकि नित्यत्वादि ब्रह्म से भिन्न न होने से विशेष नहीं हैं। नित्यत्व नित्य शब्दार्थ होने से नित्य से अभिन्न ही है। जैसे तच्छब्दार्थ तत्त्व ही तत्त्व होता है वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। 'ॐतत्सदिति निर्देशः तत्त्वं नारायणः परः' इत्यादि स्मृति श्रुति से यही मालूम पड़ता है कि तत्त्व और तत् एक ही है। नित्य शब्द नित्यत्ववाची नहीं है यह भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि गवादि शब्द भी गोत्वादि के ही वाचक होते हैं। कहा जाता है जाति में शक्ति माननेवालों के यहाँ यह ठीक भी है परन्तु अद्वैती तो जाति ही नहीं मानता; पर यह कहना ठीक नहीं। व्यक्ति से अतिरिक्त जाति मान्य न होने पर भी अनुवृत्तत्व रूप से व्यक्ति को ही जाति मानने में कोई आपत्ति नहीं। व्यक्ति के ही अनुवृत्त एवं व्यावृत्त दो रूप होते हैं। अनुवृत्तत्व रूप से गोत्व ही व्यक्ति है, व्यावृत्त रूप से गौ व्यक्ति है अतः नित्य एवं नित्यत्व दोनों ही व्यक्ति ही हैं। व्यक्ति एक ही है अतः नित्यत्व नित्य से अभिन्न ही है, इसी तरह सत्यत्वादि भी सत्य ब्रह्मरूप ही हैं। श्रुति-सिद्ध एवं अनुभवानुसारी ही तर्क मान्य होता है, तद्विरुद्ध तर्क मान्य नहीं। ब्रह्म का निर्विशेषत्वानुमान श्रुति एवं अनुभव के अनुसार है, सविशेषत्वानुमान उभय-विरुद्ध है। इसलिये अनुमान से ब्रह्म की सविशेषता नहीं सिद्ध होती है, 'श्रुति-युक्त्यनुभूतिभ्यो वदतां किन्नुऽशकम्'।

कुछ लोग कहते हैं कि निर्विकल्पक ज्ञान भी सविशेष विषयक ही होता है। एकजातीय द्रव्य में प्रथम पिण्ड ग्रहण ही निर्विकल्पक ज्ञान है, द्वितीयादि पिण्ड ग्रहण सविकल्पक ज्ञान है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम गो पिण्ड ग्रहण के तुल्य ही द्वितीयादि भी गो पिण्ड ग्रहण होते हैं अतः प्रथम भी सविकल्पक

ही है। 'खण्डोऽयम् शुक्लोऽयं मुण्डोऽयं रक्तो गौः' इस तरह नाम जात्यादि सहित होने से प्रथम पिण्ड ग्रहण भी सविकल्पक ही है। जिस ज्ञान में नाम, जाति, गुण आदि विकल्प विषय होते हैं वह सविकल्प और जिसमें उक्त विकल्प विषय नहीं होते वही ज्ञान निर्विकल्प होता है। अतः 'डित्थोऽयं ब्राह्मणोऽयं श्यामोऽयं' इस प्रकार एकजातीय द्रव्य में प्रथम पिण्ड ग्रहण भी सविकल्प ही है। यही तार्किकों ने भी कहा है। विशेषण विशेष्य सम्बन्धानवगाहि ज्ञान ही निर्विकल्प है अर्थात् तदवगाहि ज्ञान सविकल्प है। अद्वैतियों का भी यही कहना है—'संसर्गानवगाहि ज्ञानं निर्विकल्पम्, वैशिष्ट्यावगाहि ज्ञानं सविकल्पम्'।

कहा जाता है लोक में कतिपय विकल्परहित ही ज्ञान प्रसिद्ध है, सर्व विकल्परहित कोई ज्ञान प्रसिद्ध नहीं है फिर अप्रसिद्ध निर्विकल्पक ज्ञान कैसे सिद्ध होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं है, अविद्वानों के लिये सुषुप्ति में, विद्वानों के लिये निर्विकल्प समाधि में निर्विकल्प ज्ञान प्रसिद्ध है।

कहा जाता है 'संसर्गानवगाहि' ज्ञान का कोई करण नहीं हो सकता क्योंकि निर्विकल्प ज्ञान अतीन्द्रिय ज्ञान है। इन्द्रियों से अतीन्द्रिय ज्ञान जन्य नहीं हो सकता। व्याप्ति ज्ञान भी उसका कारण नहीं है क्योंकि ऐसा व्याप्ति ज्ञान भी अदृष्ट है।

कहा जाता है "गौ यह विशिष्ट ज्ञान विशेषण ज्ञान से जन्य होता है, विशिष्ट ज्ञान होने से, दण्डी इस ज्ञान के तुल्य। यह अनुमान निर्विशेष विशेषण ज्ञान का साधक है" पर यह भी ठीक नहीं; क्योंकि सविशेष ज्ञान विशेषण ज्ञान जन्य होता है यह बात अमान्य है। इसके अतिरिक्त विशेषण ज्ञान के निर्विकल्पक होने में कोई प्रमाण नहीं। कहा जाता है 'सविकल्पक बुद्धि विशिष्ट बुद्धि है तो विशेषण बुद्धि को सुतरां निर्विकल्प बुद्धि मानना उचित है।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि निर्विकल्पक ज्ञान में विशेषण बुद्धित्व सिद्ध हो तभी सविकल्पक ज्ञान का विशिष्ट बुद्धित्व भी सिद्ध होता है; और इसी तरह सविकल्पक ज्ञान में विशिष्ट बुद्धित्व सिद्ध हो तभी निर्विकल्प में विशेषण बुद्धित्व सिद्ध होता है, इस तरह अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। इस तरह विशिष्ट ज्ञान के विशेषण ज्ञान जन्य होने पर भी विशेषण ज्ञान निर्विकल्प ज्ञान नहीं सिद्ध होता है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि निर्विकल्पक ज्ञान से ही सविकल्प का उदय होता है, अतः सविकल्पक ज्ञान कार्यरूप लिंग से निर्विकल्पक

ज्ञानरूप कारण का अनुमान होता है। क्योंकि उक्त प्रकार का नियम असिद्ध है। निर्विकल्प ज्ञान भी ज्ञान ही है अतः ज्ञान का करण नहीं हो सकता। इसी तरह शब्द भी निर्विकल्प ज्ञान का करण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृति प्रत्यय योग से पदत्व सम्पन्न होता है। प्रकृति प्रत्यय दोनों के अर्थों में भेद होता ही है इसलिये पद के द्वारा विशिष्टार्थ का ही प्रतिपादन होता है। पदभेद भी अर्थभेद के ही कारण होता है। अतः पद संघात रूप वाक्य का भी अनेक पदार्थ संसर्ग विशेष ही अर्थ होता है। अतः संसर्गानवगाहि निर्विकल्प ज्ञान शब्द से नहीं उत्पन्न हो सकता। परन्तु अद्वैतवादी की दृष्टि से उपर्युक्त आक्षेपों का समाधान यही किया जाता है कि सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान ही इन्द्रियजन्य होता है, निर्विकल्प ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है। यह तार्किकों का ही कहना है। वेदान्त मत में तो निर्विकल्पक ज्ञान के इन्द्रियजन्य होने से प्रत्यक्षत्वानुपपत्ति नहीं होती। निर्विकल्प ज्ञान के प्रति प्रत्यक्ष प्रमाण करण होता है। यदि कहा जाय कि निर्विकल्प प्रत्यक्ष प्रमा का करण तो अन्तःकरण वृत्ति ही है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि फलभूत सभी ज्ञानों में अन्तःकरण वृत्ति ही करण होती है।

कहा जाता है कि इस तरह तो सर्वप्रमाण सांकर्य होगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं; वृत्तिभेद से प्रमाणभेद की व्यवस्था उपपन्न हो जाती है। जैसे परमत में प्रत्यक्ष प्रमाण इन्द्रिय के एक होने पर भी चक्षुरादि भेद से भिन्नता होती है वैसे ही प्रकृत में समझना चाहिये। जैसे त्वाच, चाक्षुष, रासनादि प्रत्यक्ष प्रमाओं का जैसे एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण करण है, उसी तरह प्रत्यक्षानुमिति आदि प्रमाओं की एक ही अन्तःकरण वृत्ति करण होती है, अतएव प्रमाता प्रमाण प्रमेय त्रिपुटी कहलाता है। प्रमाता अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य है। वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य प्रमाण है। विषयावच्छिन्न चैतन्य प्रमेय चैतन्य है। अज्ञात विषय चैतन्य प्रमेय है। ज्ञात विषय चैतन्य फल कहा जाता है। इस तरह सविकल्प ज्ञान के तुल्य ही निर्विकल्प ज्ञान का भी अन्तःकरण वृत्ति ही करण है।

कहा जाता है भले ही अन्तःकरण वृत्ति निर्विकल्प ज्ञान के प्रति करण हो, वह अन्तःकरण वृत्ति इन्द्रिय द्वारा निर्गत होकर निर्विकल्प ज्ञान का करण बनती है, या व्याप्तिज्ञानरूपा ही वृत्ति करण बनती है, अथवा शब्दज्ञानरूपा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इन्द्रियानिर्गता वृत्ति ही करण है और वह निर्विकल्प विषयरूपा वृत्ति होती है। यदि कहा जाय कि निर्विकल्प विषय है

ही नहीं, तो यह भी ठीक नहीं, पूर्व में निर्विषय वस्तुसत्त्व प्रतिपादन किया जा चुका है।

कहा जाता है अन्तःकरण निर्विशेषाकार नहीं हो सकता पर यह ठीक नहीं। जैसा विषय होता है वैसे ही अन्तःकरण का आकार बनता है। अतः यदि सविकल्प विषय के अनुसार अन्तःकरण की सविशेषाकारता संभव है तो निर्विशेषाकारता में क्या आपत्ति हो सकती है? इसी लिये विष्णु ध्यान से भक्त का चित्त विष्णुमय हो जाता है।

कहा जाता है जब ब्रह्म निराकार है तब चित्त में ब्रह्माकारता कैसे होगी, पर यह ठीक नहीं क्योंकि चित्त भी निराकार ही है। यदि ब्रह्म का चिदानन्द रूप आकार होता है तो चित्त भी चिदानन्दाकार ही बनता है। कहा जाता है ब्रह्म तो चित्त का अविषय है, फिर चित्त ब्रह्माकार कैसे होगा, परन्तु यह भी ठीक नहीं। संस्कृत चित्त का विषय ब्रह्म होता है यह सिद्धान्त मान्य है। इसलिये निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक अन्तःकरणवृत्ति से जन्य निर्विकल्पक ज्ञान होता है। यदि निर्विकल्प ज्ञान वृत्तिज्ञान नहीं किन्तु चैतन्य ही अभीष्ट है तब तो चैतन्य ही ज्ञान है और वह निर्विकल्प है ही और साक्षि चैतन्यरूप ही है। निर्विकल्प अन्तःकरण वृत्ति विचारित वेदान्त वाक्य से ही उत्पन्न होती है। अतः उसमें शब्द ही प्रमाण है।

यहाँ प्रश्न होता है कि 'शब्द ही करण है या शब्दज्ञान करण है?' यदि पहला पक्ष मान्य हो तब तो पुस्तकस्थ शब्द से किसी को ज्ञानोदय होना चाहिये। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि शब्दज्ञान भी ज्ञान ही है अतः वह ज्ञान का करण नहीं हो सकता। पर यह ठीक नहीं, ज्ञान के ज्ञानकरणत्व में कोई आपत्ति नहीं है अतएव व्याप्तिज्ञान से अनुमितिज्ञान होता है। पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान होता है, शब्दज्ञान निर्विकल्प ज्ञान में करण हो सकता है। पदसंघातरूप वाक्य के संसर्गानवगाहि ज्ञानजनन में यद्यपि दोष कहा गया है तथापि ब्रह्माकार वृत्तिजनन में कोई दोष नहीं। यहाँ प्रश्न होता है कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य श्रुत एवं विचारित होकर संसर्गानवगाहि ज्ञान जनन करके ब्रह्माकार अन्तःकरण वृत्ति पैदा करता है या संसर्गानवगाहि ज्ञान बिना पैदा किये ही? प्रथम पक्ष में उक्त दोष लागू होगा ही क्योंकि पदसंघातरूप वाक्य पदार्थ संसर्ग विषयक ही ज्ञान जनन करेगा। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि ब्रह्माकार वृत्ति वाक्य से कैसे

होगी ?' परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं क्योंकि तत्त्वमसीत्यादि वाक्यों से ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होना ही वाक्यों की संसर्गानवगाहिजनकता है। पद एवं पद समुदायरूप वाक्य तात्पर्य विषय अर्थ का ही बोधन करते हैं; 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय है। शब्द का जिसमें तात्पर्य होता है वही शब्दार्थ होता है। तात्पर्य विषय अर्थसंसर्ग ही हो यह नियम नहीं, अन्यथा 'विषं भुङ्क्ष्व' इस आप्त वाक्य से अनभिमत संसर्ग का भी प्रतिपादन होना चाहिये। 'गङ्गायां घोषः' यहाँ घोष गङ्गा में रह नहीं सकता है अतः संसर्ग यहाँ प्रत्यक्ष बाधित हो जाता है; 'सोऽयं देवदत्तः' यहाँ तत् परोक्ष एवं इदम् अपरोक्ष काल का संसर्ग अयुक्त ही है। अतः तात्पर्य विषय अर्थसंसर्ग ही हो यह नियम नहीं बन सकता। अतः 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः सोऽयं देवदत्तः' इत्यादि वाक्य स्वरूपमात्र के बोधक होते हैं क्योंकि उतने में ही उनका तात्पर्य है।

जैसे घटः पटः इत्यादि पद घटादि स्वरूपमात्र के बोधक होते हैं उसी तरह 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्य भी ब्रह्मस्वरूप मात्र के बोधक होते हैं, क्योंकि उपक्रमादि लिङ्गों से उसी में इनका तात्पर्य निर्धारित है। अतएव 'गामानय' इत्यादि वाक्यों के समान 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्यों का संसर्ग रूप कोई अर्थ नहीं प्रतीत होता। अतः पद या वाक्य का संसर्गावगाहिजनकत्व नियम नहीं किन्तु स्वतात्पर्य विषयार्थ ज्ञानजनकत्व ही नियम है। पद या वाक्य अपने तात्पर्य विषय अर्थ का ही ज्ञान उत्पन्न करते हैं यही नियम है। 'विषं भुङ्क्ष्व' इस वाक्य से शत्रुगृह भोजन निवृत्ति रूप अर्थ प्रतीत होता है। यह भुजि प्रकृति या प्रत्यय किसी का भी अर्थ नहीं है किन्तु प्रकृति प्रत्ययार्थ से अतिरिक्त ही अर्थ का बोधक है, भले ही वह अर्थ भी प्रकृत्यन्तरार्थ प्रत्ययान्तरार्थ से विशिष्ट ही हो। परन्तु 'प्रकृष्टप्रकाशश्चन्द्रः' इस वाक्य का तो चन्द्रस्वरूप प्रतिपादन में ही तात्पर्य है। यदि कहा जाय कि वहाँ भी प्रकृति प्रत्यय के योग से आह्लादन क्रिया का कर्ता ही चन्द्र का अर्थ है तो यह ठीक नहीं। चन्द्र शब्द का शब्दशक्ति से वैसा अर्थ होने पर भी वक्ता का उसमें तात्पर्य नहीं है, अतः उक्त वाक्य स्वरूपमात्र पर्यवसायी ही है। इसी तरह घट शब्द का क्या अर्थ है यह पुत्र के पूछने पर पिता अंगुली से निर्दिष्ट करता हुआ कहता है 'अयं घटः' यह घट है, पुत्र जान लेता है। क्या यहाँ प्रकृति प्रत्यय का अर्थ जानकर पुत्र घट समझता है। वस्तुतः पुत्र को वैसा ज्ञान हो भी नहीं सकता और न वक्ता पिता को ही वैसा इष्ट है।

कितने ही वक्ता भी प्रकृति प्रत्यय का अर्थ नहीं जानते अतः भले ही प्रकृति एवं प्रत्यय के अर्थ का भेद हो और भले ही पद विशिष्टार्थ का ही अभिधायी हो तो भी तात्पर्यवशात् स्वरूपमात्रवाची घटादि शब्द होते हैं।

कहा जाता है फिर भी घट पद किसी नाम एवं किसी आकार से विशिष्ट ही अर्थ का बोधक होता है, निर्विशेष अर्थ का बोधक नहीं होता। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि नाम तो पुत्र ने पहले सुना ही है। अतः 'अयं घटः' इस पितृवाक्य का नामविशिष्ट घट प्रतिपादन में तात्पर्य नहीं। अज्ञात अर्थ में ही शब्द का तात्पर्य मानना चाहिये। अतः वस्तुमात्र बोधन में वक्ता का तात्पर्य है। आकारबोधन में भी वक्ता का तात्पर्य नहीं है क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष सिद्ध ही है।

कहा जाता है कि "पुत्र ने नाम सुन ही लिया, आकार भी उसके सामने प्रत्यक्ष ही है, अतः दोनों ही अप्रतिपाद्य हैं। केवल वह नाम नामी के सम्बन्ध को नहीं जानता अतः संसर्गबोधन में ही पिता का तात्पर्य है", पर यह ठीक नहीं क्योंकि 'अयं घटः' इस वाक्य से घट शब्द एवं कम्बुग्रीवाद्याकार का संसर्ग-रूप अर्थ प्रतीत नहीं होता। यदि कहा जाय कि 'घट नाम एवं कम्बुग्रीवाद्याकार विशिष्ट वस्तु की प्रतिपत्ति घट शब्द से होती है तो भी विशिष्टबोधकत्व ही हुआ'। परन्तु यह भी ठीक नहीं,क्योंकि उक्त रीति से घट शब्द के विशिष्ट बोधक होने पर भी दोनों ही विशेषण तो पूर्व से ही ज्ञात हैं। उनके बोधन में वाक्य का तात्पर्य नहीं कहा जा सकता, अतः विशेष्य मात्र बोधन में ही वाक्य का तात्पर्य मानना उचित है।

कहा जा सकता है कि "विशिष्टवाचि पद विशेष्यमात्र परक कैसे माना जाय" ? परन्तु तात्पर्यानुपपत्ति से विशिष्टवाचक पद भी लक्षण से विशेष्य मात्र का प्रतिपादन करता ही है। जैसे परमत में 'घटोऽनित्यः' यहाँ यद्यपि घट पद घटत्वविशिष्ट का वाचक है तथापि अनित्य के साथ अन्वयानुपपत्ति के कारण व्यक्तिभूत घट का ही प्रतिपादन करता है। घटत्व जाति होने से नित्य है। उसका अनित्य के साथ अन्वय नहीं हो सकता। इस तरह 'अयं घटः' इस वाक्य को विशेष्यमात्र पर्यवसायी मानना ठीक है। वह विशेष्य मृत्तिका नहीं क्योंकि मृत्तिका भी किसी का विशेषण ही है किन्तु; मृत्तिका भिन्न घट स्वरूप ही वह विशेष्य है। वह क्या है, कहा जाता है, यह कहना कठिन है; परन्तु क्यों कठिन है ? अनुभव नहीं है या वस्तु अनिर्वचनीय है। पहला पक्ष ठीक नहीं, आत्म

साक्षिक अनुभव का अपलाप नहीं किया जा सकता। दूसरा पक्ष तो इष्ट ही है। इसी तरह 'पटोऽयम्' यह अनुभव भी निर्विकल्प वस्तु सत्ता में प्रमाण है। अतः निर्विकल्प में कोई प्रमाण नहीं यह कहना मोहमूलक ही है। आनयनादि क्रिया रहित सभी सिद्ध वस्तु के प्रतिपादक विशिष्टार्थ बोधक वाक्य भी तात्पर्यतः विशेष्यभूत वस्तुमात्र पर्यवसायी होता है। वह विशेष्य वस्तु निर्विकल्पक वस्तु ही है। महावाक्य द्वारा उसी का प्रतिपादन होता है। अतएव 'सभी शब्द ब्रह्म के प्रतिपादक हैं' यह भी कहा जाता है। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादि श्रुति स्मृति भी ऐसा ही कहती हैं। क्रियापर वाक्यों में भी गौ क्या है यह विचार करने पर गो शब्द भी ब्रह्म में ही पर्यवसित होता है। इस तरह पद एवं पद समूह से तात्पर्य वृत्ति द्वारा ब्रह्म प्रतिपादन संभव है। अभिधा शक्ति अवश्य ब्रह्म में संभव नहीं क्योंकि शब्द प्रवृत्ति, विभिन्न जाति, गुण, क्रिया आदि ब्रह्म में नहीं है।

कहा जाता है ब्रह्म ईश्वर सच्चिदानन्द आदि सब ब्रह्म के ही नाम हैं फिर ब्रह्म नामरहित है ऐसा क्यों कहा जाता है? परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि परमार्थतः शब्द एवं उसका ब्रह्मवाचकत्व दोनों ही नहीं, व्यवहारतस्तु ब्रह्म के अनन्त नाम हैं ही। सभी नामरूप ब्रह्म में ही कल्पित हैं, जैसे घटादि नाम एवं कम्बुग्रीवादि रूप मृत्तिका में कल्पित है। नामरूप कल्पित ही हैं। अतएव 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' श्रुति में मृत्तिका को ही सत्य कहा गया है। मृत्तिका कारण है, कार्यापेक्षया कारण सत्य है। यही श्रुति का तात्पर्य है। स्वकारण जल की अपेक्षा मृत्तिका भी मिथ्या ही है।

कहा जाता है ब्रह्म नामरहित है इसमें कोई प्रमाण नहीं, परन्तु 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' इत्यादि श्रुति स्पष्ट ही ब्रह्म को अशब्द या अनाम कहती है। 'न नामरूपे गुण कर्म एव वा' यह भागवत पद्य भी इसी अर्थ में प्रमाण है। किञ्च यह भी प्रश्न होगा कि जिसका नाम आप कहते हैं वह नाम ही है या नामवाली वस्तु है अथवा नामरहित है। पहला पक्ष ठीक नहीं, नाम का आश्रय नाम नहीं हो सकता, जैसे घटवान् घट नहीं होता। दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं, सविशेष का विशेष है या निर्विशेष का इत्यादि प्रश्न के तुल्य ही नामवान् का नाम है तो आत्माश्रय, अन्योऽन्याश्रय दोष होंगे। तृतीय पक्ष तो अनाम वस्तु सिद्ध ही हो गयी। इसी तरह रूप, जाति आदि के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

कहा जाता है कि फिर नामादि रहित वस्तु में नामादि सहितत्व कैसे होगा? परन्तु यह ठीक नहीं, जैसे नीरूप गगन में भ्रान्ति से नीलरूप की प्रतीति होती है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। कहा जाता है तो इस तरह तो सभी वस्तु नामादि रहित ही ठहरेगी। परन्तु यह तो इष्ट ही है। अतएव सब कुछ ब्रह्म ही है।

कहा जाता है निर्विशेष में सर्वत्व भी कैसे बनेगा, पर यह कुछ नहीं, क्योंकि सर्वरूप सब नाम जिसमें कल्पित हैं वही सर्व है। सर्वाध्यास की अधिष्ठानता ही सर्वता है वह भी व्यवहारतः परमार्थतः नहीं; परमार्थतः अधिष्ठान भी नहीं अधिष्ठानता भी नहीं। इस तरह निर्विशेष ब्रह्म है, तद्विषयक ज्ञान ही निर्विकल्प ज्ञान है और वह ज्ञान शब्द से होता है।

कहा जाता है "समाधि में भले ही ब्रह्माकार वृत्ति बन जाय परन्तु सुप्ति में निर्विशेष वृत्ति कैसे होगी? क्योंकि उस समय तो अन्तःकरण ही नहीं होता।" यह कथन व्यर्थ है, क्योंकि उस समय अविद्या है अतः ब्रह्माकार अविद्या वृत्ति ही होती है। वस्तुतः अविद्या एवं अन्तःकरण की निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति स्वाभाविक ही होती है। उसके उदय के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता है ही नहीं। यदि कहा जाय कि 'फिर तो वेदान्त व्यर्थ होंगे' परन्तु यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि सविकल्पक वृत्ति हटाने के लिये ही वेदान्त का उपयोग है। वही निदिध्यासन का भी उपयोग है। उसी से दर्शन, स्मरणादि वृत्ति रहित चित्त बनता है। इस सविशेषाकारता के हटने पर ब्रह्माकारता चित्त की स्वतः व्यक्त होती है। उस समय आत्मा स्वयं स्फुरित होता है, यही भागवत में कहा है:—

"यदोपरामो मनसो नामरूपस्य दृष्ट स्मृति सम्प्रमोषात्।
य ईयते केवलया स्वसंस्थया हंसाय तस्मै शुचिसद्मने नमः॥"

यद्यपि निर्विशेष वृत्ति सदा ही रहती है परन्तु सविशेष वृत्ति से प्रतिबद्ध होने के कारण वह असती सी लगती है। जैसे मेघाच्छन्न आकाश में रहता हुआ भी अरुण नहीं प्रतीत होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। अथवा यों समझिये कि चित्त का निर्विशेष वृत्ति जनन स्वभाव है। सविशेष वृत्ति से वह स्वभाव प्रतिबद्ध रहता है। कहा जाता है कि यदि समाधि के तुल्य सुप्ति में भी निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति होती है तब तो सब को ही मुक्त होना

चाहिये, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सुप्त में अज्ञान भी रहता है। इसी लिए सर्वमुक्ति नहीं होती।

कहा जाता है कि "जब उस समय निर्विशेष ब्रह्माकार वृत्ति है ही तब अज्ञान भी क्यों नहीं निवृत्त होता ?" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अन्तःकरण वृत्ति में ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। अविद्या वृत्ति से वह कार्य नहीं होता। कहा जाता है अन्तःकरण वृत्ति भी तो जड़ ही है परन्तु चैतन्य के प्रतिफलन की महिमा से उस वृत्ति में अज्ञाननिवृत्ति करने की शक्ति होती है। अविद्या की अपेक्षा अन्तःकरण अति स्वच्छ होता है। इसी लिये वहाँ चैतन्य का स्फुट अवभास होता है, जैसे जल की अपेक्षा दर्पण में भी सूर्य का प्रतिबिम्ब अति स्पष्ट होता है। कहा जाता है जब चैतन्य में ही अज्ञान-निवर्तकता नहीं तो उसके प्रतिबिम्ब से वृत्ति में वह सामर्थ्य कैसे होगी। परन्तु जैसे सूर्य के तूलराशि का दाहक न होने पर भी सूर्यकान्ता संश्लिष्ट सूर्य की रश्मियों से तूलराशि का नाश होता है वैसे ही प्रकृत में भी समझना चाहिये। सुप्ति में साक्षिरूप भी ज्ञान है, अविद्या वृत्तिरूप भी ज्ञान है तभी सुप्तोत्थित की स्मृति उपपन्न होती है। सुप्ति में अविद्या वृत्तियों के द्वारा ही साक्षी को आनन्द एवं अज्ञान का अनुभव होता है।

कहा जाता है 'निर्गता विशेषा यस्मात् स निर्विशेषः' इस तरह निर्विशेष भी सविशेष ही ठहरता है। बहुव्रीहि समास के अनुसार निर्विशेष शब्द अन्य पदार्थवाची होता है। परन्तु यह तो अद्वैती मानता ही है कि विशेषरहित अन्य पदार्थ को ही निर्विशेष शब्द कहता है। जिससे विशेष निकल गये हों उसे सविशेष नहीं ही कहा जा सकता। इसी तरह कहा जाता है यदि प्रत्यय सविशेष विषय न होगा तो उसमें प्रत्ययत्व ही न रहेगा। परन्तु इसी तरह यह भी कहा जा सकता है कि यदि निर्विकल्प ज्ञान सविशेष विषयक होगा तो उसमें निर्विकल्पत्व भी न रहेगा।

कहा जाता है कतिपय विकल्पराहित्य होने मात्र से निर्विकल्पत्व बन जायगा; परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि इस स्थिति में निर्विकल्प सविकल्प दोनों शब्दों का पृथक् अर्थ ही न रह जायगा। यदि कहा जाय कि सर्व विकल्प सहित सविकल्प है, कतिपय विकल्परहित निर्विकल्प है; पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सर्व विकल्प सहित कोई वस्तु होती ही नहीं, एक घट में सब विशेष कहाँ रहते हैं ? घट में ज्ञातृत्वादि विशेष नहीं है, जीव में जड़त्वादि नहीं, ईश्वर में दुःखादि नहीं होते, प्रत्युत यही कहा जा सकता है कि सर्व विशेषों का आस्पद ब्रह्म ही है।

यद्यपि निर्विशेष में सविशेषत्व नहीं बनता तथापि माया से सब कुछ संभव है ही। इस तरह कतिपय विकल्प सहित ही घटादि सविकल्प वस्तु है, वही सविकल्प ज्ञान में विषय होता है। अतः कतिपय विकल्परहित ज्ञान ही निर्विकल्प ज्ञान है यह कथन निःसार ही है।

कहा जाता है फिर सविशेष विषय न होने से प्रत्यय प्रत्यय ही न रहेगा। इसका क्या समाधान है? पर यह भी तो कहा जा सकता है कि यदि प्रत्यय निर्विशेष विषयक न हो तो भी प्रत्यय का प्रत्ययत्व न रहेगा। फिर भी कहा जाता है 'प्रतीयतेऽनेनेति प्रत्यय' इस व्युत्पत्ति के अनुसार पदार्थ प्रतीत हो जिससे वही प्रत्यय है। निर्विकल्प प्रत्यय से तो किसी की भी प्रतीति नहीं होती इसलिये निर्विकल्प प्रत्यय में प्रत्ययत्व की हानि होती है। परन्तु सविकल्प प्रत्यय में भी यही बात कही जा सकती है। यदि कहा जाय कि सविकल्प प्रत्यय से घटादि सविकल्प वस्तु की प्रतीति होती ही है तो यह भी कहा जा सकता है कि निर्विकल्प प्रत्यय से भी निर्विकल्प वस्तु प्रतीत होती है। पर कहा जा सकता है कि निर्विकल्प में तो प्रतीयमानत्व ही नहीं होता, यदि प्रतीतत्व हो तब तो उसी प्रतीयमानत्वरूप विकल्प से युक्त होने के कारण वह सविकल्प ही होगा।

यद्यपि यह ठीक है कि स्वप्रकाश होने से निर्विकल्प वस्तु में प्रतीयमानत्व नहीं होता तथापि निर्विकल्प वस्तु को ढाँकनेवाले अज्ञान का नाश निर्विकल्प वस्त्वाकार वृत्ति से ही होता है। इसी लिये निर्विकल्प वस्तु भी उपचार से वृत्तिवेद्य कही जाती है। इसी लिये 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' इत्यादि श्रुति ब्रह्म को मनोवेद्य कहती है। फलव्याप्य न होने से मनोवचनातीत भी वही वस्तु कही जाती है। वृत्तिप्रतिफलित चैतन्यव्यापता ही फलव्यापता है, यह जड़ में ही होती है। ब्रह्म तो स्वतः भासमान होता है अतः उसमें वह नहीं होती। यही बात 'तमेवभान्तमनुभाति सर्वम्' से कही गयी है। फिर भी सूर्य में उलूक अनुभव-सिद्ध अन्धकार के तुल्य स्वतो भासमान ब्रह्म में ही अज्ञानावरण माना जाता है। इस तरह निर्विकल्प वस्तु भी वृत्तिवेद्य है अतः निर्विकल्प बोधक वृत्ति में प्रत्ययत्व उपपन्न ही है। कहा जाता है कि यदि ब्रह्म में वृत्तिव्याप्यता है तब तो वह सविकल्प ही हो गया। परन्तु यह ठीक नहीं, परमार्थतः वृत्ति एवं वृत्ति-व्याप्यता दोनों ही नहीं हैं अतः निर्विकल्पत्व की हानि नहीं होती, व्यवहारतः सविकल्पकत्व ब्रह्म में मान्य ही है। किञ्च अयं घटः इस अनुभव को प्रतिवादी यद्यपि सविकल्प ही मानता है परन्तु वह भी निर्विकल्प में ही पर्यवसित होता है यह पीछे कहा ही जा चुका।

कहा जाता है सविकल्पक प्रत्यय में निर्विकल्पक प्रत्ययानुभूत अर्थविशिष्ट की प्रत्यभिज्ञा होती है अतः निर्विकल्प ज्ञान भी सविशेष विषयक ही होता है। पर यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि वस्तुतः प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय यह त्रिपुटी जिस ज्ञान में भासित होती है वही ज्ञान सविकल्प होता है। जैसे 'घटमहं जानामि' इस ज्ञान में घट प्रमेय, जानामि प्रमाण, अहं प्रमाता भासित होता है। अतः यह सविकल्प ज्ञान है, उससे भिन्न ज्ञान निर्विकल्प है। इदमित्थं रूप से उसका निर्वचन नहीं होता है। निष्प्रकारक ज्ञान दुर्वच होता है। किसी प्रकार भी निर्वचन विशिष्ट का ही होता है। इसी लिये 'अतीन्द्रियं ज्ञानं निर्विकल्पम्' यह तार्किकों का कहना है। मनसा, वाचा, अचिन्त्य अवाच्य ही अतीन्द्रिय ज्ञान है। तार्किक मत में मन भी इन्द्रिय ही है। अतीन्द्रिय ज्ञान में विषयभूत अर्थ अगर किसी विशेषण से विशिष्ट हो तब तो अवश्य ही इदं इत्थं रूप से वाच्य ही हो सकता है। अतएव सुप्तोत्थित का प्रत्यभिज्ञान सविकल्प ही है। क्योंकि उसमें 'सुखमहमस्वाप्सम्, न किञ्चिदवेदिषम्, मामप्यहं नाज्ञासिषम्' त्रिपुटी भासित होती है।

———

ज्ञान का निर्विकारत्व

अद्वैत अनन्त एक ज्ञान ही ब्रह्म है। वही लौकिक ज्ञानों के रूप में प्रस्फुरित होता है। इतना ही क्यों वही सम्पूर्ण प्रपञ्चरूप में भी प्रस्फुरित होता है। फिर भी आरोपित प्रपञ्च से अनारोपित ब्रह्म या ज्ञान लौकिक ज्ञानों से वैसे ही पृथक् करके समझना है जैसे मुञ्जसे इषीका निकाला जाता है। वृत्ति के संसर्ग से वृत्तिगत उत्पत्ति आदि वृत्तिव्यक्त स्फुरण में भी प्रतीत होते हैं। आरोपित धर्मों को बाधित कर देने पर अनारोपित ज्ञान ब्रह्म स्वरूप ठहरता है। योगवाशिष्ठकार का कहना है कि अपार अपरिच्छिन्न ज्ञान स्वरूप ब्रह्म समुद्र में मनाक् मननी शक्ति के योग से मन का आविर्भाव होता है—

"स आत्मा सर्वगोराम नित्योदितवपुर्महान्।
समनाङ्मननीं शक्तिं धत्ते तन्मन उच्यते ॥"

इसी लिए कहा जाता है कि अखण्डज्ञान में विषयों का अध्यास ही चित्त है विषयाध्यास तकार को हटा देने पर चित्त चित् (अखण्ड ज्ञान) ही हो जाता है— 'चित्तं चिद्विजानीयात्तकाररहितं यदा'। इसी तरह अनुमानों के आधार पर वेदान्तवेद्य ब्रह्म को अद्वैती निर्विकार सिद्ध करते हैं यह भी कल्पना सर्वथा निराधार है। अद्वैतियों के अनुसार सोपाधिक ब्रह्म सर्व लौकिक प्रमाणों का गोचर होता हुआ भी निर्विकार, निरुपाधिक, अशेषविशेषातीत ब्रह्म वेदान्तवेद्य ही है। जैसे चक्षुर्मात्रगम्य रूप को चाक्षुष कहा जाता है उसी तरह उपनिषन्मात्र-गम्य होने के कारण ब्रह्म औपनिषद् पुरुष कहा जाता है। फिर भी ब्रह्म विद्या अनुभवावसाना होती है अतः शास्त्रैकगम्य अर्थ को बुद्ध्या रूढ़ करने के लिए उपपत्तियाँ भी अपेक्षित होती हैं। इसी लिए 'श्रोतव्यः' से उपक्रमादि षड्विध लिङ्गों द्वारा उपनिषदों का ब्रह्म में तात्पर्यनिर्धारणरूप विचार का विधान है। 'मन्तव्यः' से श्रुत अर्थ का श्रुत्यविरुद्ध तर्कों द्वारा व्यवस्थापनरूप मनन का विधान है। 'निदिध्यासितव्यः' से श्रुत एवं व्यवस्थित अर्थ का विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्यय प्रवाहरूप ध्यानाभ्यास विहित है। इस तरह मनन निदिध्यासनरूप अङ्गों से युक्त श्रवण ही ब्रह्मानुभूति का हेतु होता है।

इसी लिए अनुमानादि का प्रयोग नित्यत्वादि सिद्धि में किया जाता है। इस दृष्टि से ज्ञानों में स्वप्रकाशत्व, अनुत्पन्नत्व, निर्विकारत्व, अनानात्व, आत्मत्व आदि सिद्ध करना युक्त ही है। लौकिक ज्ञानों में विषयप्रकाशकत्व प्रसिद्ध ही है। ज्ञान के स्वप्रकाश होने से ही विषय का प्रकाश सिद्ध होता है। अवेद्य होकर अपरोक्ष होने से ही ज्ञान का स्वप्रकाशत्व सिद्ध है।

ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक सोपाधिक या साभास वृत्तिरूप और दूसरा निरुपाधिक ब्रह्मरूप। पहले की ही उत्पत्ति आदि होती है दूसरे की नहीं, यह विस्तार से कहा गया है। उपाधिबाधित होने पर सोपाधिक ज्ञान भी निरुपाधिक ब्रह्म ही ठहरता है। उपाधिरहित ज्ञान में ही वेदान्ती अनुत्पन्नत्व, निर्विकारत्व आदि सिद्ध करते हैं। उनमें स्वरूपा सिद्धि आदि दोष दिखाना निरर्थक प्रयास है। प्रतिवादी के ही मत में 'आत्मधर्मभूत ज्ञान नित्य भी है और उसमें अनुभवत्व, स्मृतित्व, परोक्षत्व, अपरोक्षत्व आदि अवस्थारूप विकार भी होता है परन्तु दार्शनिकों की दृष्टि से विकारी सभी अनित्य ही होता है। एक में अनेकत्व, नित्य में विकारित्व विना भ्रान्ति के नहीं हो सकता। उत्पत्ति-विनाशवाला सब ज्ञान साभास वृत्तिरूप है, वह शुद्ध ब्रह्म नहीं है यह मान्य ही है। उसी आत्मधर्म का व्यवहार बन सकता है, वही ज्ञान आश्रय विषय-सापेक्ष हो सकता है, ब्रह्मरूप ज्ञान निराश्रय, निर्विषय मान्य ही है। वेदान्तवेद्य ब्रह्म ज्ञान स्वरूप ही है। उसमें द्रष्टृत्व ज्ञातृत्व का व्यवहार वैसे ही औपचारिक है जैसे आदित्य में प्रकाशकत्व का व्यवहार। स्वरूपभूत नित्य प्रकाश के द्वारा आदित्य प्रकाशक कहा जा सकता है, वैसे ही स्वरूपभूत नित्य प्रकाश के द्वारा आत्मा भी द्रष्टा कहा जा सकता है। अन्य में वास्तविक द्रष्टृत्व नहीं होने से वही मुख्य द्रष्टा भी माना जाता है। जैसे तरङ्गादि कार्यों की स्थिति गति समुद्र के परतन्त्र होती है उसी तरह चेतनाचेतन सर्व प्रपञ्च की स्थिति गति ब्रह्म के परतन्त्र होती है। इसी लिए सप्रपञ्चावस्था में ब्रह्म चेतनाचेतन का अन्तर्यामी एवं चिदचिद्विशिष्ट या चिदचिच्छरीरक कहा जा सकता है। किन्तु सभी प्रपञ्च वाचारम्भण होने से कार्य हैं और कार्य होने से अनित्य एवं अनृत हैं, अतः सदा ही ब्रह्म सप्रपञ्च नहीं रहता, इसी लिए वह सदा विशिष्ट भी नहीं रहता। सभी कार्यों को कारण से अनन्य कहा गया है, अर्थात् कारणातिरिक्त कार्य को मिथ्या कहा गया है, कारण को ही सत्य कहा गया है। अवान्तर कारणों में भी 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' सत्यत्व कहा गया है, परन्तु परम कारण परमेश्वर में ही मुख्य सत्यत्व होता है। इसी लिए 'सदेव सत्यम्' कहा गया है, अतः यावत्पर्यन्त शुद्ध ब्रह्म

का प्रबोध नहीं होता तब तक ही ब्रह्म की सप्रपञ्चता मान्य है। तत्त्वप्रबोध होने पर अशेष विशेषातीत ही तत्त्व ठहरता है। प्रकृति और पृथ्वी के दृष्टान्त से कहा जाता है कि जैसे वे विकारवान् होने पर भी नित्य हैं वैसे ही ज्ञान विकारवान् होने पर भी नित्य हो सकता है। परन्तु यह ठीक नहीं, प्रकृति एवं पृथ्वी भी नित्य नहीं है, ब्रह्मातिरिक्त सब विनश्वर है—'अतोन्यदार्तम्'-श्रुति। तभी तो 'एकमेवाद्वितीयं', 'नेहनानास्ति किञ्चन' आदि श्रुतियाँ ब्रह्म को सजातीय विजातीय स्वगतभेदशून्य कहती हैं।

उत्पत्ति षड्विध भाव विकारों का उपलक्षण है। जिसकी उत्पत्ति न भी होती हो किन्तु विनाश होता हो वह भी सविकार ही है। जिसमें जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति ये विकार होते हैं, वह विकारी एवं अनित्य ही होता है। प्रकृति में विकार होने से वह भी अनादि होते हुए भी सांत ही है। परिणामिनी होने के कारण उत्पत्ति विनाशशालिनी होने पर भी अविच्छिन्न प्रवाहवती होने के कारण ही प्रकृति अनादि कही जाती है। प्रतिवादी ईश्वर में भी संकल्प आदि को विकार रूप में मानते हैं और उन विकारों को गुण मानकर सन्तोष कर लेते हैं, परन्तु विकार तो स्वयं ही दोष है। कई लोग 'अकायम्' का अर्थ करते हैं कि ईश्वर का देह सदोष नहीं निर्दोष होता ही है, पर इस तरह 'अव्रणम्' का भी यही अर्थ करना होगा कि ईश्वर में सदोष नहीं निर्दोष व्रण है। यों व्यावहारिक दृष्टि से जैसे ईश्वर में देह श्रुत है वैसे ही संग्राम आदि के प्रसंग से व्रण भी श्रुत है, पर वस्तुतः नित्य, निर्विकार ईश्वर में ही माया या लीला से अवास्तव ही विकार भासित होते हैं। 'अज' परमेश्वर में माया से ही जन्म आदि भी भासित होते हैं। 'अकाय' में भी अचिन्त्य दिव्य लीला शक्ति के योग से देहवत्ता की प्रतीति होती है। निष्कर्ष यह कि नित्य, निर्विकार, सच्चिदानन्द ब्रह्म ही दिव्यलीला शक्ति से भक्तप्रेमपरवश होकर अदेह होता हुआ भी देहवान्, निर्विकार होता हुआ भी विकारवान् प्रतीत होता है, जैसा कि श्री तुलसीदासजी ने कहा है—

व्यापक ब्रह्म निरञ्जन, निर्गुण विगत विनोद।
सोइ अज भक्त प्रेमवश, कौशल्या की गोद॥

सांख्य, योग, वेदांत, सभी दर्शन पुरुष को असङ्ग निर्विकार एवं चेतन मानते हैं। प्रकृति एवं प्रकृति बुद्धि द्वारा ही सब विकार, व्यवहार उपपन्न होता

है। परन्तु पुरुष में, तत्रापि ईश्वर में स्वाभाविक विकार मानना और उसे गुण मानना यह संगत नहीं है। परमेश्वर की दिव्य अचिंत्य शक्ति के योग से निर्गुण ब्रह्म वैसे ही सगुण साकार बनता है जैसे शैत्य के योग से जल वर्फ बन जाता है। हिम (बर्फ) यद्यपि जल ही है तथापि शैत्य उपाधि के द्वारा ही वह विकार है। विकार का पर्यवसान उपाधि में ही है। उसी तरह सगुण, साकार भगवान् शुद्ध, निर्गुण, निर्विकार ब्रह्म ही है। विकार का पर्यवसान उस शक्ति में ही है, उपहित निर्विकार ब्रह्म में नहीं। वह शक्ति परम शुद्ध भगवान् की दिव्य अन्तरङ्गा शक्ति है। वह भगवान् के समान सत्तावाली नहीं है। सर्वापेक्षया उत्कृष्ट होने पर भी भगवान् की अपेक्षा किञ्चित् न्यून सत्तावाली है इसी लिये वस्तुतः ब्रह्म में निर्विकारता, निर्विशेषता, अद्वितीयता तथा शुद्धता बनी रहती है।

आत्मा उत्पाद्य, आप्य, संस्कार्य, विकार्य नहीं है—'अविकार्योऽयमुच्यते'। फिर आत्मा को विकार्य सिद्ध करने का प्रयत्न करना कहाँ तक ठीक है यह विचारणीय है।

'भवो निरोधोस्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभयाश्रयात्मनि।'

औपाधिक ज्ञानभेद

कहा जाता है कि ज्ञान का आश्रय ज्ञाता (अहमर्थ) तथा विषय घटादि के भेद से ज्ञान का भेद ही मानना चाहिये। यदि ज्ञानभेद को घटाकाश मठाकाश के भेद के तुल्य औपाधिक भेद माना जाय तो संयोगभेद, क्रियाभेद तथा इच्छादि भेद का भी औपाधिक भेद मानना पड़ेगा। परन्तु यह किसी को भी मान्य नहीं है। अद्वैती भी पटद्वय के संयोग से घटद्वय संयोग को भिन्न ही मानते हैं। इसी तरह मोक्षकामना और पुत्रादिकामना को सभी भिन्न ही मानते हैं। इस भेद को औपाधिक भेद कोई नहीं मानता है। इसी प्रकार गमनादि क्रिया भेद भी स्वाभाविक ही माना जाता है। यहाँ यह कोई नहीं मानता कि संयोग, इच्छा तथा क्रियादि एक ही वस्तु है। उसमें उपाधिभेद से संयोगादि भेद होता है। काम्य पदार्थों के भेद से कामना का भेद, संबन्धि-भेद से संयोग का भेद, गन्ता गन्तव्य आदि के भेद से गमनादि क्रिया का भेद औपाधिक भेद होता है। जहाँ सम्बन्धी सत्ता का हेतु होता है, वहाँ भेद वास्तविक होता है। जैसे संयोग, इच्छा तथा गमनादि क्रिया संबन्धियों से उत्पन्न होती हैं। जहाँ सम्बन्धि अभिव्यक्ति के ही हेतु होते हैं वहाँ भेद औपाधिक होते हैं। जैसे घटादि घटाकाश आदि के उत्पत्ति के हेतु नहीं हैं किन्तु अभिव्यक्ति के ही हेतु हैं। क्योंकि घटादि के बिना भी आकाश की सत्ता प्रमाणित है। परन्तु घटद्वय, पटद्वय इत्यादि सम्बन्धी पदार्थों के पहले घटद्वय संयोग की सत्ता प्रमाणित नहीं है। जैसे घटाभाव काल में आकाश रहता है वैसे ही घटद्वय के अभाव में घटद्वय संयोग की सत्ता प्रमाणसिद्ध नहीं होती। इसी तरह गन्ता गन्तव्य के बिना गमन क्रिया की सत्ता भी प्रमाणित नहीं होती। इसी तरह ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान क्रिया भी प्रमाणित नहीं होती, क्योंकि निर्विषय और निराश्रय ज्ञान की सत्ता अत्यन्त अप्रसिद्ध ही है। अतः ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि का भेद स्वाभाविक ही है। गन्ता, गमन, छेदक, छेद्य आदि के भेद से गमन, छेदनादि क्रिया के समान ज्ञानादि ज्ञाता एवं ज्ञेय के भेद से भिन्न ही हैं। परन्तु यह सब कथन ठीक नहीं है क्योंकि जैसे प्रकाश के अभिन्न होने पर भी प्रकाश्यभेद से औपाधिक प्रकाशभेद मान्य है वैसे ही ज्ञान के एक होने पर भी ज्ञेयादि भेद से ज्ञान का औपाधिक भेद

मान्य है। गन्ता आदि के बिना जैसे गमन क्रिया की सत्ता असिद्ध है वैसे ही विषयादि के बिना ज्ञान की सत्ता असिद्ध नहीं कही जा सकती, किन्तु आकाशादि के तुल्य ज्ञाता एवं ज्ञेय के न रहने पर भी समाधि एवं मुक्ति दशा में नित्यज्ञान सिद्ध है। पीछे कहा ही गया है कि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' श्रुति के अनुसार ज्ञान स्वरूप आत्मा नित्य है। प्रतिवादी भी नित्य आत्मा को ज्ञान स्वरूप मानता है। यह अन्य बात है कि वह ज्ञान का आश्रय भी है। हाँ वृत्तिरूपज्ञान ज्ञाता एवं ज्ञेय के अधीन होता है। अतः उसका स्वाभाविक भेद मान्य है ही। परन्तु ज्ञाता अहमर्थ ज्ञानवृत्ति ज्ञेय विषय का भासक नित्यज्ञान रूप आत्मा नित्य सिद्ध है ही। 'त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा' (श्रीमद्भागवत)। सबकी सत्ता अनुभवाधीन है परन्तु अनुभव की सत्ता अन्याधीन नहीं होती, प्रत्युत अनुभव स्वतःसिद्ध स्वप्रकाश मान्य होता है। इन्द्रियादि के न रहने पर भी स्वाप्निक घटादि प्रत्यक्ष ज्ञान होता ही है। यदि अबाधित ज्ञान के सम्बन्ध में विषय सम्बन्ध अनिवार्य कहा जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि घटादि ज्ञान भी वस्तुतः बाधित ही होते हैं। वस्तुतः जैसे मृत्तिका के रहने पर ही घटादि का उपलम्भ होता है, वैसे ही प्रतीति होने पर ही विषयोपलम्भ होता है अतः प्रतीतिमात्र ही विषय है। फिर विषयाधीन प्रतीति की सत्ता कैसे कही जा सकती है? वस्तुतस्तु प्रतिवादी भी धर्मभूत ज्ञान को एक मानता हुआ स्मृतित्वादि अवस्थाभेद से ही उसका भेद मानता है। यदि भेद मानना हो तो नैयायिकों के समान रूपादि ज्ञानों का स्वतःसिद्ध ही भेद मानना चाहिये। धर्मभूत ज्ञानरूप से अभिन्न एवं स्मृतित्वादि धर्मरूप से भिन्न मानने में अनेकान्तवाद की प्रसक्ति होगी अतः इस अर्धजरतीय को छोड़कर श्रुतिप्रमाण के अनुसार ज्ञान को नित्य ही मानना ठीक है। नित्य में अवस्थाभेद बन नहीं सकता अतः उपाधिभेद से ही भेदव्यवस्था करनी उचित है। यदि 'तदस्य हरति प्रज्ञाम्', 'तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पात्रादिवोदकम्', 'प्रज्ञा प्रसृता पुराणी' इत्यादि प्रमाणों के अनुसार ज्ञान का विकास सङ्कोच या उत्पत्ति विनाश माना जाय तो ज्ञान की नित्यता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकेगी। यदि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं' के अनुसार ज्ञान नित्य माना जाय तो उसकी उत्पत्ति आदि नहीं बन सकेगी। प्रकृति, पृथ्वी आदि ब्रह्मभिन्न सब पदार्थ अनित्य ही हैं अतः उनके दृष्टान्त से ज्ञान में नित्यता अनित्यता दोनों का समन्वय नहीं हो सकता। जो परिणामी हैं वे अवश्य अनित्य हैं। अमुक पदार्थ देखा जाता है अमुक नहीं देखा जाता इससे ज्ञान की अनित्यता सिद्ध

नहीं होती, किन्तु विषयविशिष्ट प्रकाश की ही आगन्तुकता प्रतीत होती है। विषयाकार वृत्ति की अनित्यता से ही नित्यज्ञान में भी अनित्यता भ्रम होता है। वृत्तिज्ञान के ही विकास एवं सङ्कोच या क्षरण का भ्रम नित्य बोध में होता है। वृत्तिभेद बोधभेद का नियामक है, इसी लिये एक ज्ञान में सब विषय का स्पष्टोल्लेख नहीं होता है। वैसे ही एक अखण्ड बोध में ही सब अर्थ अध्यस्त होकर भासित होते हैं यह सब प्रमाणों से सिद्ध ही है।

"ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम्।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादि धर्मिणा॥"

———

अहङ्कार की अभिव्यञ्जकता

अहङ्कार चित् का अभिव्यञ्जक होता है। कहा जाता है कि "अभिव्यक्ति पदार्थ क्या है? उत्पत्ति अभिव्यक्ति नहीं कही जा सकती है क्योंकि चित् स्वतः सिद्ध है, उसकी उत्पत्ति अमान्य ही है। प्रकाशन अभिव्यक्ति है यह भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अद्वैती संविद् को अनुभाव्य नहीं मानते। इसी लिये अनुभव साधनों का अनुग्रह अभिव्यक्ति है यह भी नहीं कहा जा सकता। अनुभव के साधन दो प्रकार के होते हैं करणभूत एवं कर्तृभूत। परन्तु उन दोनों में अहङ्कार के द्वारा कोई अनुग्रह नहीं हो सकता।" परन्तु यह कथन असंगत है क्योंकि उत्पत्ति ही अभिव्यक्ति मानें तो भी कोई दोष नहीं। यद्यपि संविद् स्वतः सिद्ध है तथापि वृत्त्यवच्छिन्न रूप से उसकी उत्पत्ति मान्य है। इसी तरह प्रकाशन भी अभिव्यक्ति मानी जा सकती है। सामान्याकारेण भासमान संविद् अहङ्कार के सम्बन्ध से विशेषाकारेण भासमान होती है। अहङ्कार के सम्बन्ध से साभास अहङ्काररूप से संविद् भासने लगती है। आत्मदर्शन साधन, चित्त की एकाग्रता संपादन द्वारा साभास अहङ्काररूप प्रमाता अनुभवसाधन का अनुग्राहक होता है। आत्मदर्शन के इच्छुक साधक को चित्त को शुद्ध करके एकाग्र बनाना पड़ता है। कहा जाता है 'आत्मा अतीन्द्रिय है फिर आत्मदर्शन में करण क्या हो सकता है'? परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अतीन्द्रिय होने पर भी आत्मा मनोवेद्य है। मन अनिन्द्रिय ही है, वेदान्तपरिभाषा आदि ग्रंथों में यह स्पष्ट है। कहा जाता है 'अनुभूति को अनुभाव्य मान भी लिया जाय तो भी अहमर्थ के द्वारा अनुभव साधन का अनुग्रह नहीं हो सकता, क्योंकि अनुग्रह का प्रकार यही है कि रूपादिग्रहण की उत्पत्ति का विरोधी तम होता है। दीपादि उस तम का निरसन करके रूपादिग्रहण का अनुग्राहक होता है। इस तरह अनुभाव्य की अनुभवोत्पत्ति का विरोधी कोई प्रसिद्ध नहीं, फिर किसका निरसन करके अहङ्कार अनुभवसाधन का अनुग्रह करेगा? कहा जा सकता है कि अज्ञान ही ज्ञानोत्पत्ति का विरोधी है। परन्तु वह तो ज्ञाननिवर्त्य है, अहङ्कार के द्वारा निवर्त्य नहीं होता।' परन्तु यह सब कथन निःसार है। एकाग्रचित्त आत्मदर्शन का साधन है। 'दृश्यतेत्वग्र्या बुद्ध्या' श्रुतिः। अनन्त जन्म सञ्चित पुण्यापुण्यरूप दुरित ही लय विक्षेप का जनक होने से चित्त की एकाग्रता का बाधक है।

साभास अहङ्काररूप प्रमाता के द्वारा ईश्वरभक्ति आदि द्वारा उसी दुरित का निवर्हण किया जाता है। साथ ही जैसे घटज्ञान में घटावरक अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित होती है वैसे ही आत्मज्ञान में भी आत्मावरक अज्ञान की निवृत्ति अपेक्षित होती है। तदर्थ ज्ञातारूप अहङ्कार के द्वारा वृत्तिज्ञान उत्पन्न किया जाता है। वह ज्ञान स्वतः नहीं उत्पन्न होता। इस तरह संविद्रूप आत्मा के आवरक अज्ञान के निवर्तक ज्ञान का कर्ता होने से अहमर्थ आत्मानुभव साधन का अनुग्राहक है ही।

कुछ लोग कहते हैं कि "जो ज्ञान का आश्रय होता है वही अज्ञान का भी आश्रय होता है, क्योंकि ज्ञान एवं अज्ञान का विषय आश्रय समान ही होता है। जो घटादि ज्ञान के आश्रय नहीं हैं वे अज्ञान के भी आश्रय नहीं होते। अद्वैत मत में संविद् ज्ञान स्वरूप ही है, वह ज्ञान का आश्रय नहीं। फिर वह अज्ञान का भी आश्रय कैसे होगी।" परन्तु ऐसा मान लिया जाय तो भी कोई हानि नहीं, संविद्रूप आत्मविषयक ज्ञान अज्ञान दोनों तो मान्य ही हैं। मुझे आत्म साक्षात्कार नहीं है, मुझे आत्म साक्षात्कार है, ऐसा अविद्वान् एवं विद्वान् को अनुभव होता है। ये ज्ञान तथा अज्ञान कर्ता अहङ्कार के आश्रित रहते हैं। वह ज्ञान का आश्रय है। अतः अज्ञान का भी आश्रय वही होता है। इस तरह अहङ्काराश्रित ज्ञान का विषय होने से आत्मा में जैसे विदितत्व का व्यवहार होता है वैसे अहङ्काराश्रित अज्ञान का विषय होने से आत्मा में अविदितत्व व्यवहार भी बनता है। यही अज्ञानविषयता ही अज्ञानावृतत्व है। इस तरह संविद् के अज्ञानाश्रय न होने पर भी अहङ्काराश्रित अज्ञान का विषय होने से ही अज्ञानावृतत्व का व्यवहार बनता है। फिर भी कई आचार्य शुद्ध चैतन्य को ही अज्ञान का आश्रय कहते हैं। अनादि अज्ञान किसी कार्यभूत वस्तु के आश्रित नहीं हो सकता; अतएव 'अहङ्काराश्रित अज्ञान है' इस कथन का भी यही अर्थ है कि अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान है और वह अज्ञान चैतन्य विषयक भी है। घटादि अज्ञान के विषय न होकर घटादि अवच्छिन्न चैतन्य ही अज्ञान का विषय मान्य है। पूर्वसिद्ध तम का आश्रय या विषय पश्चाद्भावी कोई वस्तु नहीं हो सकती। ज्ञान तो वृत्तिरूप होने से अहङ्कार के आश्रित और घटादि को विषय करनेवाला हो सकता है।

कहा जाता है "अहङ्काराश्रित ज्ञान से संविदाश्रित अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो सकती है? लोक में चैत्राश्रित ज्ञान से मैत्राश्रित अज्ञान की निवृत्ति नहीं

होती।" इसपर समाधान किया जाता है कि भले ही अनादि अज्ञान चैतन्याश्रित ही है परन्तु सादि अज्ञान अहङ्काराश्रित होता है; मूलाज्ञान अनादि है, अवस्था (तूला) अज्ञान सादि है। चैतन्याश्रय, चैतन्यविषयक मूलाज्ञान एक ही है। घटादि अवच्छिन्न चैतन्य के आश्रित घटादिविषयक अज्ञान नाना हैं। वे अज्ञान अहङ्काराश्रित भी होते हैं। एतद्विरोधी वृत्तिज्ञान भी अहङ्काराश्रित होते हैं। अखण्डात्माकार वृत्तिज्ञान भी अहङ्काराश्रित ही होता है। घटाद्यवच्छिन्न चैतन्याश्रित, घटाद्यवच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान और अहङ्काराश्रित घटादि विषयावच्छिन्न चैतन्यविषयक अज्ञान ये दोनों ही अहङ्काराश्रित घटाद्यवच्छिन्न विषयक ज्ञान से निवृत्त होते हैं। अथवा जैसे जन्य ज्ञान अहङ्काराश्रित होता है वैसे ही सादि अज्ञान भी अहङ्काराश्रित ही होता है। चैतन्याश्रित चैतन्यविषयक अनादि अज्ञान अहङ्काराश्रित भी होता है क्योंकि अहङ्कारावच्छिन्न चैतन्य में उसका उपलम्भ होता है। तथा च अहङ्काराश्रित तत्तद् वृत्तिज्ञान से तद्विषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है।

कहा जाता है "जैसे सूर्य में तम नहीं हो सकता है वैसे ही चित्स्वरूप आत्मा या ब्रह्म में अज्ञान कैसे रह सकता है?" पर यह ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य और तम जैसे चित् एवं अज्ञान का विरोध है ही नहीं क्योंकि चित् से अज्ञान का प्रकाश होता है। सुप्ति में पुरुष अज्ञान का अनुभव करता है। ज्ञान-अज्ञान का विरोध होता है इस कथन में ज्ञान का अर्थ वृत्तिरूप ही है। कहा जाता है 'अज्ञान का ही कार्य अन्तःकरण है फिर अन्तःकरण वृत्ति और अज्ञान का विरोध कैसे हो सकता है?' परन्तु यह भी ठीक नहीं, कारण संघटित लकड़ियों से पैदा हुई अग्नि ही लकड़ियों को नष्ट करती है। अथवा केवल चैतन्य एवं केवल वृत्ति दोनों ही अज्ञानविरोधी नहीं हैं किन्तु वृत्तिप्रतिफलित चैतन्य ही अज्ञानविरोधी होता है अथवा साभासवृत्ति ज्ञान अज्ञान विरोधी है। जैसे केवल सौरालोक तूल राशि का भासक होता हुआ भी सूर्यकान्त मणि पर संसृष्ट होकर वही तूलराशि का दाहक होता है, सूर्य तृणादि का दाहक नहीं होता है परन्तु दर्पणविशेष पर प्रतिफलित वही सूर्य तृणादि का दाहक हो जाता है।

कहा जाता है "यदि आत्मा अज्ञान का द्रष्टा है तो वह अज्ञान का आश्रय कैसे हो सकता है? लोक में घटद्रष्टा घट का आश्रय नहीं होता है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि प्रतिवादी भी आनन्दादि द्रष्टा के आश्रित आनन्दादि को

मानता है। सिद्धान्तानुसार तो कहा जा सकता है कि वस्तुतः अज्ञान संविद् में नहीं है। व्यवहार दृष्टि से जब तक व्यवहार है आत्मा में अज्ञान अनुभवसिद्ध है। जैसे उलूक दृष्टि से सूर्य में अनुभवसिद्ध अन्धकार है वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये। जैसे आत्मा में ज्ञान आनन्दादि की कल्पना है वैसे ही अज्ञान की भी कल्पना है ही, इसलिये वस्तुतः आत्मा ज्ञान अज्ञान दोनों का ही आश्रय नहीं है। व्यवहारतः स्वतः अज्ञान का आश्रय है। स्वाध्यस्त अन्तःकरण के द्वारा ज्ञान का आश्रय है।

संसार में चित् अचित् दो पदार्थ अनुभवसिद्ध हैं। चित् स्वतःसिद्ध अनन्याश्रित है अचित् परतःसिद्ध अन्याश्रित है। सब अचित् का मूल अज्ञान ही है वही अचित् शक्ति है। वह अपने कार्य के आश्रित भी नहीं हो सकती, निराश्रय भी नहीं हो सकती। तब सुतरां अचित् चित् की ही शक्ति है। अतएव उसी के आश्रित है। जैसे वह्निशक्ति वह्निविलक्षण है वैसे ही चित् की शक्ति चित् से विलक्षण होने से ही अचित् एवं त्रिकालाबाध्य सत् से भिन्न होने के कारण सत् से विलक्षण है। विश्वप्रपञ्च का मूल होने से खपुष्पादिवत् असत् भी नहीं है यही उसकी सदसद्विलक्षणता अनिवर्चनीयता है। ज्ञेयत्व एवं ज्ञातृत्व धर्म से शून्य ज्ञानमात्र साक्षी में अज्ञान कैसे हो सकता है; इत्यादि आक्षेप व्यर्थ ही हैं, क्योंकि अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य ही साक्षी होता है। शुद्ध चैतन्य तो अद्वितीय ही है। वह साक्षी नहीं हो सकता। तब भी अज्ञानोपहित चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान रहता है। अज्ञानवशात् ही विषयता भी चैतन्य में बनती है। अज्ञानोपहित ही अहङ्काररूप उपाध्यन्तर के योग से ज्ञाता भी होता है।

कहा जाता है "अज्ञान स्वावच्छिन्न चैतन्य का आश्रयण कैसे कर सकेगा क्योंकि इसमें आत्माश्रय दोष होगा। अज्ञान के आश्रयण से पहले अज्ञाना-वच्छिन्न चैतन्य ही नहीं हो सकता"। पर यह ठीक नहीं क्योंकि अज्ञान एवं तदाश्रयण एवं तदवच्छेद सब अनादि हैं अतः अज्ञान आश्रयण से पहले और पीछे का प्रश्न नहीं हो सकता। अज्ञान स्वावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही होता है अपने आश्रित नहीं रहता, अतः आत्माश्रय नहीं होगा।

वस्तुतस्तु चैतन्य का अज्ञानावच्छिन्न होना ही अज्ञान का आश्रय होना है और वह अज्ञानावच्छिन्नता अनादि ही है; अतएव अज्ञानावच्छेद के प्रथम चैतन्य शुद्ध था, यह नहीं कहा जा सकता। अतः शुद्ध चैतन्य में अज्ञान कैसे

हो सकता है ? इस प्रश्न का अवकाश ही नहीं। इसी तरह अनादि चैतन्य का अवच्छेदक अनादि अज्ञान भी ब्रह्मज्ञान से निवृत्त होता है। 'तरत्यविद्यां विततां' इत्यादि शास्त्रप्रमाण से यह सब संभव है। प्रतिवादी के मत में भी अनादि-प्रागभाव की निवृत्ति मान्य ही है। इसी लिये जब तक व्यवहार है तब तक अज्ञानावच्छिन्न चैतन्य के आश्रित ही अज्ञान होता है। फिर भी कहा जाता है कि 'किसी तरह संविद् को अज्ञान का आश्रय मान भी लिया जाय परन्तु आत्मरूप से स्वीकृत संविद् ज्ञान का विषय नहीं होती अतः ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। ज्ञान स्वविषय में ही अज्ञान का निवर्तक होता है। जैसे रज्जु विषयक ज्ञान से रज्जु का अज्ञान निवृत्त होता है। अतः संविदाश्रित अज्ञान किसी ज्ञान से कभी नहीं निवृत्त होगा।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, क्योंकि सिद्धान्त में संविद् ज्ञान का आश्रय नहीं होती यही कहा गया है। वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता तो संविद्रूप आत्मा में मान्य ही है। अतएव संविद्विषया अखण्डाकारावृत्ति मान्य है। यथा घटानाश्रित घटविषयक ज्ञान से घटाज्ञान की निवृत्ति होती है उसी तरह संविद् के अनाश्रित (प्रमाता के आश्रित) ज्ञान से भी संविद् के अज्ञान की निवृत्ति हो ही सकती है। इस तरह आत्मभूता संविद् ज्ञान का विषय होती है। इसमें 'अहमात्मानं जानामि' मैं आत्मा को जानता हूँ यह अनुभव प्रमाण है। ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति में 'अहं ब्रह्मास्मि' यह अनुभव प्रमाण है। पहला प्रमाण सर्वसाधारण है दूसरा ब्रह्मविद् के लिये ही है।

फिर भी कहा जाता है कि "एक ही ब्रह्मविद् के ज्ञान से संविद् ज्ञान की निवृत्ति हो जायगी क्योंकि संविद घटादि के तुल्य अनेक नहीं है, फिर तो सभी प्रमाताओं की अयत्नसिद्ध मुक्ति हो जायगी। इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि फिर तो शुकादि की मुक्ति से ही जगत् मिट जाना चाहिये था। इस समय जगत् का उपलम्भ न होना चाहिये। यदि शुकादि की मुक्ति अर्थवाद है तब तो किसी की मुक्ति भी संभव नहीं है। फिर वेदान्त विचार व्यर्थ ही होगा।" परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि विषय के अभिन्न होने पर भी प्रमातृ-भेद से विषयावरक अज्ञान का भेद मानने से सब व्यवस्था बन जाती है। अन्यथा एक व्यक्ति को घट का साक्षात्कार होने से सभी को उस घट का साक्षात्कार मानना चाहिये; तथाच एक व्यक्ति के ज्ञान से उसके प्रति घट का आवरक मिट जाने पर भी इतर व्यक्तियों के प्रति घट का आवरक अज्ञान बना ही रहता है। कहा जाता है 'अज्ञान तो एक है फिर अनेक अज्ञान

कैसे' ? परन्तु एक अज्ञान होने पर भी उपाधि से अज्ञान में औपाधिक भेद मान्य है।

यह भी कहा जाता है कि यदि संविद् ज्ञान निवर्त्य अज्ञान का आश्रय होगी तो संविद् ज्ञान का विषय ठहरेगी, पर यह कथन व्यर्थ है। वृत्तिरूप ज्ञान की विषयता संविद् में मान्य ही है। स्वरूपज्ञान फलव्याप्ति का विषय नहीं होता परन्तु वृत्ति का विषय तो मान्य ही है। कहा जाता है 'अविषय ब्रह्म कैसे विषय बन सकेगा।' परन्तु यह भी ठीक नहीं, वस्तुतः संविद्रूप आत्मा के अविषय होने पर भी उसमें माया से कल्पित विषयता हो सकती है। इसी तरह आश्रयत्व विषयत्वादि धर्मों के शून्य होने पर ब्रह्म में माया के द्वारा उसमें अनेक धर्मों की कल्पना होती है और माया के द्वारा ही उसमें भूत भौतिक प्रपञ्च की भी कल्पना होती है।

कहा जाता है "कोई अभिव्यञ्जक स्वाश्रयरूप से अभिव्यङ्ग्य का अभिव्यञ्जक नहीं होता। प्रदीपादि व्यञ्जकों में ऐसा नहीं देखा जाता अतएव अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक नहीं हो सकता।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रदीप स्वात्मस्थ अरुणिमा आदि का व्यञ्जक होता है या नहीं ? प्रथम पक्ष मान्य है तब तो वैसे ही अहङ्कार भी स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक हो ही सकता है। यदि दूसरा पक्ष है तब तो 'अरुणो दीपः' दीप अरुण है यह प्रतीति कैसे होगी ?

जैसे दर्पणादि स्वात्मस्थ प्रतिबिम्ब का व्यञ्जक होता है वैसे ही अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक होता है। कहा जाता है "दर्पणादि मुखादि का अभिव्यञ्जक नहीं होता किन्तु चाक्षुष तेज ही दर्पण में प्रतिफलित होता है। उसी प्रतिफलन दोष के कारण अन्यथा ही प्रतीति होती है। व्यञ्जक तो आलोकादि ही है, स्वप्रकाश संविद में अहङ्कार के द्वारा तादृश दोष का उपपादन नहीं हो सकता है।" परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि दर्पण में मुख का प्रतिबिम्बन नहीं होता चाक्षुष तेज ही प्रतिफलित होता है, यह सब अनुभवविरुद्ध है। सभी लोग दर्पणादि में मुखादि का प्रतिबिम्ब मानते हैं। अचाक्षुष की छाया नहीं होती यह प्रतिवादी मानता है। चाक्षुष तेज चक्षु से नहीं गृहीत हो सकता क्योंकि स्वात्मस्थ व्यङ्ग्य का स्वयं व्यञ्जक नहीं होता है, यह प्रतिवादी का ही कहना है। यदि चक्षुर्भिन्न से चक्षु का आलोक गृहीत होता है यह कहा जाय तो यह ठीक नहीं, क्योंकि इस रीति से तो अचाक्षुष ही ठहरेगा;

फिर प्रतिवादी के अनुसार अचाक्षुष की छाया कैसे बन सकेगी ? कहा जा सकता है कि वादी अचाक्षुष आकाश का प्रतिबिम्ब मानता है, वैसे ही यहाँ भी समाधान होगा। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अनुभव और शास्त्र के अनुसार किसी अर्थ की सिद्धि की जाती है केवल अनुमान से नहीं। जानुपरिमित जल में गंभीरता की प्रतीति होती है अतः गगन प्रतिबिम्ब का निश्चय होता है। 'त्रिविधं नभः' इत्यादि अध्यात्म रामायण वचन से भी गगन प्रतिबिम्ब सिद्ध होता है। प्रकृत में दर्पण में चाक्षुष तेज का प्रतिफलन (प्रतिविम्बन) नहीं प्रतीत होता, वैसा कोई शास्त्र भी नहीं है, अन्यथानुपपत्ति भी कोई नहीं। ग्राह्य चाक्षुष तेज के प्रतिफलन का ग्राहक भी कोई नहीं। यदि कहा जाय कि चक्षु का तेज ही उसे ग्रहण करता है तो भी ठीक नहीं, क्योंकि एक में ही ग्राह्यता एवं ग्राहकता होने से कर्मकर्तृ विरोध होता है। कहा जा सकता है कि बिम्ब प्रतिबिम्ब दो वस्तु हैं अतः ग्राह्य ग्राहक भाव बन जायगा। परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि स्वप्रतिबिम्ब में स्वव्यापार नहीं हो सकता। कहा जा सकता है मुख ही प्रतिमुख का ग्राहक होता है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ चक्षु ही ग्राहक है मुख नहीं। कहा जा सकता है चक्षु चक्षु के प्रतिबिम्ब का ग्राहक होता है। परन्तु यह भी ठीक नहीं, चक्षुर्गोलक का ही प्रतिबिम्ब होता है, अतीन्द्रिय चक्षु इन्द्रिय का नहीं अतः गोलक का प्रतिबिम्ब चक्षु से ग्राह्य हो सकता है। कहा जा सकता है जैसे चिदाभास का ग्रहण चित् करता है वैसे चक्षु आलोक से आलोक प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो सकता है पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि चित् स्वयं ज्ञान स्वरूप है वह ज्ञान का आश्रय नहीं होता। कहा जाता है कि 'स्व में स्वव्यापार हो सकता है फिर स्वप्रतिबिम्ब में बिम्ब का व्यापार क्यों नहीं होगा ? छेत्ता के हाथ का व्यापार छेत्ता के हाथ में होता है।' पर यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ छेदक भाग से छेद्य भाग में भेद ही है अभेद नहीं। अतः कर्मकर्तृ विरोध का कोई भी प्रसङ्ग नहीं।

कहा जाता है "जैसे साक्षी के द्वारा गगन और गगन के प्रतिबिम्ब का बोध होता है उसी तरह साक्षी के द्वारा चाक्षुष तेज एवं उसके प्रतिबिम्ब का ग्रहण हो सकता है, अतः ग्राहकाभाव नहीं कहा जा सकता।" पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि अनुभव का जो सर्वथा अविषय है उसमें साक्षिवेद्यत्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्यथा शशशृङ्गादि को भी साक्षिवेद्य कहा जा सकेगा। यदि दर्पण में मुख का प्रतिफलन न हो तब तो सूर्य का भी दर्पण में प्रतिफलन (प्रतिबिम्बन) न हो सकेगा ? इसे इष्टापत्ति नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'अतएव

चोपमा सूर्यकादिवत्' इत्यादि ब्र० सू०, 'एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्' श्रु० से सूर्य चन्द्र आदि का प्रतिबिम्ब मान्य है। कहा जाता है 'दर्पणादि में मुखादि का प्रतिफलन नहीं होता, यह नहीं कहा जा रहा है क्योंकि वह तो चाक्षुष है। चाक्षुष की छाया तो मान्य है ही किन्तु दर्पण में प्रतिफलित प्रतिमुख का व्यञ्जक दर्पण नहीं है किन्तु दर्पण में प्रतिफलित चाक्षुष तेज ही प्रतिमुख का ग्राहक है'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि चाक्षुष तेज का प्रतिफलन नहीं हो सकता यह कहा ही जा चुका है। किञ्च यदि चाक्षुष तेज ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब का ग्राहक हो सकता है तो चाक्षुष तेज के प्रतिबिम्ब को मुखादि प्रतिबिम्ब ग्राहक मानना व्यर्थ ही है। फिर भी कहा जाता है 'दर्पण में मुखादि का ही प्रतिफलन हो, चाक्षुष तेज का प्रतिफलन न हो तो भी दर्पण स्वात्मस्थ प्रतिबिम्ब का ग्राहक या व्यञ्जक नहीं सिद्ध होता किन्तु आलोकादि ही उसका व्यञ्जक है'। परन्तु यह कथन भी ठीक नहीं क्योंकि सिद्धान्त में आलोकादि सहकृत ही दर्पण प्रतिबिम्ब का व्यञ्जक मान्य है। आलोकादि न रहने पर केवल दर्पण मात्र प्रतिबिम्ब का ग्राहक कभी भी नहीं होता।

कहा जाता है "भले ही आलोकादि सहकृत दर्पण में ही मुखादि का प्रतिफलन माना जाय तथापि दर्पण प्रतिमुखादि का व्यञ्जक नहीं हो सकता"। परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि जैसे रज्जु सर्प आदि प्रातिभासिक पदार्थों की अज्ञात सत्ता नहीं होती इसी तरह प्रतिबिम्ब की भी अज्ञात सत्ता नहीं हो सकती, इसलिये दर्पण में अज्ञात होकर प्रतिबिम्ब नहीं रह सकता। अतः दर्पण का मुख प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व सम्प्रतिपन्न है। यही दर्पण का स्वप्रतिफलित प्रतिमुख व्यञ्जकत्व है। इसी तरह अहङ्कार का चैतन्य प्रतिबिम्ब ग्राहकत्व ही चैतन्य प्रतिबिम्ब व्यञ्जकत्व है। कहा जाता है 'जड़ अहङ्कार कैसे चैतन्यव्यञ्जक होगा' परन्तु यह भी ठीक नहीं। चैतन्य प्रतिबिम्बग्राही अहङ्कार अजड़ ही हो जाता है। परन्तु दर्पणादि मुखादि प्रतिबिम्बग्राही होते हुए भी जड़ ही रहता है क्योंकि प्रतिफलित मुख जड़ ही है। अहङ्कारप्रतिफलित चैतन्य तो अजड़ है। इसी लिये साभास अहङ्कार स्वात्मस्थ अनुभूति का व्यञ्जक है ही। संविद् में वास्तविक दोष न होने पर भी माया ही अहङ्कार में संविद् को प्रतिबिम्बित करती है।

कहा जाता है "अहङ्कार ज्ञान एवं तत्साधन का अनुग्राहक है अतः यथावस्थित पदार्थ प्रतीति के अनुगुण होता है, वह प्रतिफलित अनुभूति का व्यञ्जक नहीं होता"। पर यह कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रमारूप ज्ञान ही यथावस्थित प्रतीति का हेतु होता है। अप्रमारूप ज्ञान का यह नियम नहीं है। अनधिगत,

अबाधित अर्थविषयक ज्ञान ही प्रमा है, परन्तु ऐसी वस्तु एक प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म ही है। घटादि ज्ञानों का प्रमात्व सापेक्ष ही है। यावद् व्यवहार घटादि का बाध नहीं होता इसी लिये वे व्यावहारिक सत्य हैं।

अहङ्कार जैसे प्रमा ज्ञान का आश्रय है वैसे ही अप्रमा ज्ञान का भी आश्रय होता है; क्योंकि वृत्ति आत्माकार अनात्माकार दोनो ही प्रकार की हो सकती है। आत्माकार वृत्ति प्रमा है, अनात्माकार अप्रमा है। इस तरह अहङ्कार के स्वात्मस्थ अनुभूति की व्यञ्जकता में कोई बाधा नहीं है।

अब प्रश्न होता है कि "अहङ्काराभिव्यङ्ग्य अनुभूति क्या बिम्बरूप है? अथवा प्रतिबिम्बरूप? पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि अनुभूति स्वप्रकाश है अन्यव्यङ्ग्य नहीं। दूसरे पक्ष में भी प्रश्न होगा कि क्या प्रतिबिम्बरहित अहङ्कार प्रतिबिम्ब को व्यक्त करता है या सप्रतिबिम्ब? पहला पक्ष इसलिये असङ्गत है कि केवल अहङ्कार जड है। वह अनुभूति का व्यञ्जक हो तब तो घटादि को भी अनुभूतिव्यञ्जक होना चाहिये। द्वितीय में कर्मकर्तृ विरोध होगा।" परन्तु यह भी ठीक नहीं, साभास अहङ्कार ही अनुभूति का अभिव्यञ्जक होता है और अभिव्यङ्ग्य अनुभूति बिम्बभूत ही है। फिर भी यावद् व्यवहार संविद् में बिम्बभाव रहता है, बिम्बभावापन्न संविद् में वेद्यता भी कल्पित होती है अतः उसी में व्यङ्ग्यता हो सकती है। कहा जा सकता है 'वह बिम्बभूत संविद् तो अहङ्कारस्थ नहीं हो सकती क्योंकि बिम्ब प्रतिबिम्बोपाधि दर्पणादि से बहिर्भूत ही होता है।' पर यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ बिम्बभूत संविद् सर्वव्यापिनी है अतः अहङ्कारस्थ होने में कोई बाधा नहीं, अथवा प्रतिबिम्ब स्वरूप से वही अहङ्कार में है, बिम्बरूप से बाहर है। उपाधिवशात् एक ही में बिम्ब प्रतिबिम्बभाव होता है। कहा जा सकता है 'तब तो बिम्ब के तुल्य प्रतिबिम्ब भी अमिथ्या ही होगा, पर यह ठीक नहीं क्योंकि वस्तुतः प्रतिबिम्ब के तुल्य ही बिम्ब भी मिथ्या ही है। बिम्ब प्रतिबिम्ब में अनुस्यूत मुख ही सत्य है। उपाधिभूत दर्पणादि के न रहने पर जैसे प्रतिबिम्ब व्यवहार नहीं होता वैसे ही बिम्ब व्यवहार भी नहीं होता। औपाधिक बिम्ब प्रतिबिम्ब भावापन्न संविद् का व्यञ्जक अहङ्कार तात्पर्य वृत्ति से शुद्ध चिन्मात्र का बोधक होता है। इस तरह अनुग्राहक अहङ्कार यथावस्थित वस्तु की प्रतिपत्ति का जनक होता है। अहङ्कार के एतत्स्वाभाव्य में कोई बाधा नहीं पड़ी। यावद् व्यवहार अहङ्कार में बिम्बरूप से आत्मा रहता है। इसलिये यह अर्थ यथार्थ ही है।

प्रश्न किया जाता है "अन्तःकरणरूप अहङ्कार में स्थितरूप से संविद् की उपलब्धि दोष से होती है या वस्तुतः ? दोनों ही तरह से संभव नहीं है परन्तु यह प्रश्न भी व्यर्थ ही है क्योंकि जब अन्तःकरण ही वस्तुभूत नहीं तो उसमें संविद् की उपलब्धि वास्तविक कैसे हो सकती है ? व्यवहारतः अहङ्कार है। अतः माया के द्वारा उसमें संविद् का प्रतिफलन होता ही है। कहा जाता है कि अचाक्षुष गगन का किसी तरह प्रतिविम्ब हो भी जाय परन्तु अमूर्त अस्वच्छ स्थूल द्रव्य में तो किसी का प्रतिफलन नहीं ही होता, पर यह ठीक नहीं, क्योंकि स्वच्छत्वमात्र ही प्रतिफलन का प्रयोजक होता है मूर्तत्व आदि नहीं। अहङ्कार स्वच्छ तो है ही फिर उसमें संविद् प्रतिफलन में क्या बाधा है ? गगन में शब्द का भी प्रतिफलन होता है। शास्त्रैकगम्य विषय में तो तर्क का कोई महत्त्व भी नहीं। चित् का प्रतिफलन होता है यह अध्यात्म रामायण कहती है— 'आभासस्त्वपरं विम्बभूतमेवंविधा स्थितिः'। अथवा सर्वव्यापी होने से चित् की अहङ्कार में स्थिति तो निर्विवाद रूप से ही मान्य है। अहङ्कारस्था संविद् का अहङ्कार के साथ तादात्म्याध्यास होता है। जैसे देहस्थ जीव का देह के साथ तादात्म्याध्यास प्रतिवादी को भी मान्य है। इसी तरह आत्मधर्मों का भी अहङ्कार में अध्यास होता है। अहङ्कार एवं उसके धर्मों का आत्मा में भी अध्यास होता है। आत्मधर्मों का अहङ्कार में अध्यास ही अहङ्कार में संविद् का प्रतिफलन है। वह अहङ्कार अपने में अध्यस्त आत्मा की अभिव्यक्ति करता है। यही अहङ्कार द्वारा संविद् की व्यञ्जना है; अथवा जैसे सर्वव्यापी गगन घटादि से अवच्छिन्न होता है उसी तरह सर्वव्यापिनी संविद् अन्तःकरण से अवच्छिन्न होती है। स्वच्छ होने से अन्तःकरण में संविद् भासती है यही अन्तःकरण में संविद् की उपलभ्यमानता है, संविद् की अन्तःकरण व्यञ्जयता है। उसी चित् के अनुग्रह से प्राप्तचैतन्य अहङ्कार ज्ञाता होता है।

———

सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता

कुछ लोग सुप्ति में अज्ञान एवं सुख का अनुभव नहीं मानते। वे कहते हैं कि सुप्ति में आत्मा ज्ञानशून्य रहता है, परन्तु अज्ञानावच्छिन्न साक्षी श्रुतिसिद्ध है। अतः साक्षी के द्वारा सुख एवं अज्ञान का अनुभव होता है, परन्तु अहंकार का अनुभव नहीं होता। जाग्रत् काल के परामर्श से भी सुख और अज्ञान का स्मरण मानना अनिवार्य है। अहमर्थ का स्मरण नहीं होता किन्तु वह स्मरण-काल में विद्यमान होने से भासित होता है, तथा अज्ञान सुख आदि परामर्शकाल में अविद्यमान होते हैं, अतः उनका परामर्श ही मानना ठीक है।

विशद, अविशद किसी प्रकार का अहं सुप्ति में नहीं अनुभूत होता। साक्षी से ही अहङ्कार का भी भान होता है। फिर अज्ञान सुखादि के तुल्य स्पष्ट ही अहं का भी भान होना ही चाहिये।

कहा जाता है "जैसे वाह्यज्ञान का ही सुप्ति में निषेध होता है, आन्तर सुखादि के प्रकाश का निषेध नहीं होता, वैसे ही देवत्वादि विशिष्ट अहंकार का सुप्ति में निषेध रहने पर भी सामान्य अहं का निषेध नहीं होता"। परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि सुप्ति में साक्षीरूप ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है। श्रुति से भी सिद्ध है 'यद्वैतन्न पश्यति पश्यन् वै तन्न पश्यति', 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि प्राज्ञरूप द्रष्टा की दृष्टि का विपरिलोप नहीं होता, परन्तु सूक्ष्म अहंकार कोई रहता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। हाँ, कारणावस्था में अहङ्कार संस्काररूप से रहने पर भी उसकी प्रतीति नहीं हो सकती।

जो कहते हैं अहमर्थ के बने रहने पर भी सुप्ति में अहमर्थ के ज्ञान का निषेध हो सकता है। परन्तु जब सुखादि के तुल्य अहमर्थ भी साक्षिभास्य है तो अविज्ञात अहमर्थ का सद्भाव कैसे सिद्ध हो सकता है। अतएव 'गृहे नाहं घटमपश्यम्' से जैसे घटाभाव सिद्ध होता है वैसे ही सुप्ति में अहं के अनुभवाभाव से अहमर्थ का अभाव ही सिद्ध होता है। 'नाहं घटमपश्यम्' से जैसे सब प्रकार के घट का अभाव ही निश्चित होता है वैसे ही सब प्रकार के अहंकार का अभाव निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त अहङ्कार विशिष्ट ही होता है। इसी लिये सामान्य अहंकार सर्वथा असिद्ध ही है।

कहा जाता है "जैसे सुप्तोत्थ के 'मैं कुछ नहीं जानता' इस परामर्श के रहने पर भी अज्ञान और सुख का ज्ञान सुप्ति में मान्य है, वैसे ही 'मैंने अपने को भी नहीं जाना', इस परामर्श के रहते हुए भी सामान्य अहमर्थ का अनुभव माना जा सकता है।" परन्तु सामान्य अहंकार क्या है? यदि अनुभवैकतान रूप है, तो भी वह अहंकारविशिष्ट है या तद्रहित? यदि तद्रहित है तो अहंकार का अस्तित्व ही नहीं सिद्ध हुआ। यदि अहंकार है तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त वाह्यज्ञान के न रहने पर भी नित्य संविद् प्रमाण-सिद्ध है, परन्तु सामान्य अहमर्थ प्रामाणिक नहीं है। यदि अनुभवरूप ही अहमर्थ सुप्ति में रहता है तब तो नाममात्र में विवाद है। यदि अनुभव का ही कोई अहं नाम रख ले तो कोई झगड़ा नहीं। अतएव 'नाहं खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मि-इति'।—छा० प्र० ८।११।१। इस श्रुति से यही सिद्ध होता है कि सोते समय जीव मैं यह हूँ ऐसा नहीं जानता। यहाँ श्रुति ने देवत्वादि रहित अहं इस प्रकार भी अहं के प्रकाश का निषेध किया है।

कुछ लोग कहते हैं "जैसे 'प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं वेद नान्तरम्', प्राज्ञ आत्मा से सम्परिष्वक्त होकर जीव बाह्य एवं आन्तर किसी पदार्थ को नहीं जानता। इस श्रुति के द्वारा सर्वज्ञान का निषेध होने पर भी अज्ञान सुखादि का प्रकाश अद्वैती को मान्य है; वैसे ही उक्त श्रुति से अहं की प्रतीति का निषेध होने पर भी देवत्वादि रहित अहं की प्रतीति मान्य है।" परन्तु यह ठीक नहीं, कारण 'पश्यन्वै तन्न पश्यति', 'नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते' श्रुतियों तथा स्मरण से साक्षिस्वरूप ज्ञान से अतिरिक्त ही ज्ञान का अभाव 'प्राज्ञेनात्मना' इत्यादि श्रुति का अर्थ संगत है। परन्तु इसी तरह सुप्ति में अहमर्थ का अस्तित्व सिद्ध करनेवाली कोई श्रुति नहीं है।

कहा जाता है कि "यदि सुप्ति में 'अहमस्मि', ऐसा नहीं जानता, कहा गया होता तो यह कहा जा सकता था कि सुप्ति में आत्मा को मैं हूँ ऐसा ज्ञान नहीं था। किन्तु श्रुति में अयमहमस्मि ऐसा उल्लेख है। अतः मैं यह हूँ, ऐसा हूँ, ऐसा ज्ञान नहीं होता। मैं हूँ ऐसा ज्ञान तो होता ही है।" परन्तु यह भी ठीक नहीं क्योंकि अयं का ऐसा अर्थ नहीं होता अयं का यह अर्थ होता है और इदम् सामान्यबोधक ही शब्द है। साथ ही अहमर्थ के अवशेष का कोई प्रमाण नहीं है। तमोगुण से आत्मा का धर्मभूत ज्ञान अभिभूत हो जाता है, यह कथन भी असंगत है क्योंकि अन्तःकरण का धर्मभूत ज्ञान भले ही तम से

अभिभूत हो परन्तु आत्म धर्मभूत ज्ञान कैसे अभिभूत हो सकता है। इसके अतिरिक्त जैसे रूपादिरहित घट नहीं उपलब्ध होता वैसे ही इच्छादिरहित अहमर्थ उपलब्ध नहीं हो सकता। सुषुप्ति में धर्मभूत ज्ञान संकुचित होता है। यहाँ संकोच का क्या अर्थ है? अनवभासमानता या अन्य? यदि अन्य तो अवभासमान ज्ञान को संकुचित क्यों कहा जायगा? यदि अनवभासमानता तो तद्भिन्न विनाश भी क्या हो सकता है? भानस्वरूप ज्ञान के अभान से भिन्न ज्ञाननाश का कुछ स्वरूप ही नहीं; संविद् के समान सुषुप्ति में अहमर्थ का अविशद भान होता है यह कथन भी असंगत है। कारण, संविद् का भान सदा ही विशद ही रहता है। अहमर्थ सुप्ति में कथमपि नहीं रहता यह कहा जा चुका है।

नैयायिक आदि आत्मा को स्वयंप्रकाश नहीं मानते और ज्ञानाभाव को ही अज्ञान एवं दुःखाभाव को ही सुख मानते हैं। सुख एवं अज्ञान के अनुभव का उपपादन करते हैं। इस मत का पूर्ण रूप से पिछले प्रकरण में खंडन कर दिया गया है। ज्ञानाभाव जानने के लिये अनुयोगी एवं प्रतियोगी का ज्ञान आवश्यक होता है। यदि उसका ज्ञान नहीं है तो ज्ञानाभाव का ग्रहण नहीं बन सकता। यदि ज्ञान है तो ज्ञानाभाव नहीं कहा जा सकता, जो आत्मा को स्वप्रकाश मानते हैं, उनके यहाँ सुप्ति में आत्मा का अप्रकाश उपपन्न नहीं हो सकता। स्मरणाभाव से ज्ञानाभाव का अनुमान नहीं हो सकता, क्योंकि तृणादि अपरिगणित पदार्थों का स्मरण न होने से उनका अभाव नहीं कहा जा सकता। जो समझते हैं कि अज्ञान एवं सुख का स्मरण नहीं है किन्तु केवल जाग्रत्काल में ज्ञानाभाव का अनुमान ही होता है, यह भी संभव नहीं है। क्योंकि फिर भी ज्ञानाभाव के अधिकरण रूप से तो आत्मा का ज्ञान आवश्यक ही है।

यद्यपि नैयायिक अनुमान से ही आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने का प्रयत्न करता है तथापि लिङ्गादि अभाव से पक्ष एवं साध्य दोनों ही की सिद्धि असंभव है।

कहा जाता है "अहमर्थ भले ही सुषुप्ति में सिद्ध हो परन्तु संविद् अनुमान से सिद्ध नहीं होती।" यह कथन निराधार है। अहमर्थ का प्रकाश किसी भी प्रमाण से सिद्ध नहीं होता। संविद् का अस्तित्व अज्ञान सुखादि-भासकत्वेन अत्यन्त प्रसिद्ध है। 'सुखमहमस्वाप्सम्' यह स्मरण ही है। इसमें स्मरामि ऐसा ही अनुभव होता है, अनुमिनोमि ऐसा अनुभव नहीं होता।